गाधी-साहित्य—५

धर्म-नीति

•

[गाधीजीकी 'नीति-धर्म', 'सर्वोदय', 'मगल प्रभात' और 'आश्रमवासियोसे' नामक चार पुस्तकोका सग्रह]

•

१९५०

सस्ता साहित्य मंडल • नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५०

मूल्य
अजिल्द डेढ रुपया
सजिल्द दो रुपये

मुद्रक
कृष्णप्रसाद दर
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद
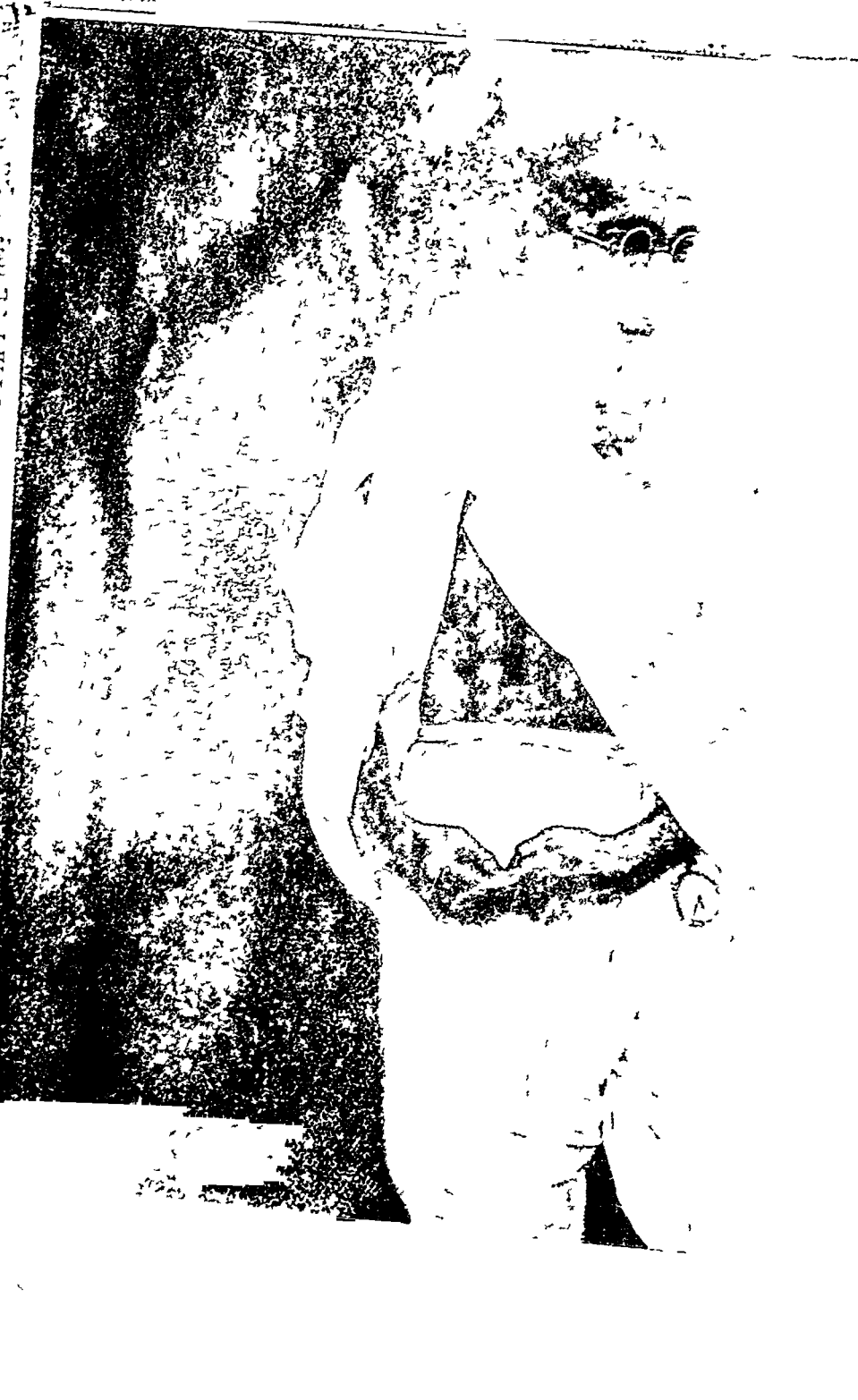
प्रकाशककी ओरसे

इन सग्रहमें गाधीजीकी १ नीतिधर्म २. सर्वोदय ३. मगलप्रभात और ४ आश्रमवादियोसे, ये चार पुस्तके दी जा रही है।

इनमेंसे पहली और दूसरी पुस्तक 'नीतिधर्म' और 'सर्वोदय' गाधीजीके हिदुस्तान आनेके पहले दक्षिण अफ्रीकामे तथा तीसरी और चौथी यरवदा जेलसे सन् १९३० मे और, ३२ में पत्ररूपमे लिखी गई थी।

'सर्वोदय' नामक पुस्तक रस्किनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का साराश है। बापूके जीवनपर रस्किनकी इस पुस्तकने विशेप प्रभाव डाला था।

ये चारो पुस्तके गाधीजीके धर्म और नीति सबधी विचारोपर प्रकाश डालनेवाली है। वास्तवमे तो गाधीजी धर्म और नीतिको अलग नही मानते थे। उनका कहना है कि धर्म ही नीति है और नीतिको धर्मके अनुसार होना चाहिए। इसी खयालसे इस सग्रहका नाम 'धर्म-नीति' रखा गया है।

—मत्री

विषय-सूची

धर्म-नीति

नीति-धर्म

[नीति-नियम और उनके पालन सवधी विचार]

प्रस्तावना

इन दिनो दुनियामे पाखड वढ गया है। मनुष्य चाहे जिस धर्मका माननेवाला हो, उस धर्मके ऊपरी रूपमात्रका विचार करता है और अपने सच्चे फर्जको भूल जाता है। अत्यन्त धन-सग्रहके कारण दूसरे आदमियोको क्या कष्ट मिलता है या मिलेगा इसका खयाल हम शायद ही करते है। अतिशय सुकुमार नन्हे-नन्हे प्राणियोको मारकर अगर उनकी खालके मुलायम मोजे वनाये जा सके तो यूरोपकी महिलाओको उनकी खालके मोजे पहननेमे जरा भी हिचक न होगी। मि० राकफेलरकी गिनती दुनियाके वडे-से-वडे धन-कुवेरोमे है। दुनिया जानती है कि पैसा इकट्ठा करनेमे उन्होने नीतिके कितने ही नियमोको तोडा है। यो चारो ओर देखकर यूरोप और अमरीकाके बहुतेरे मनुष्य धर्मके विरोधी हो वैठे है। वे यह दलील देते है कि दुनियामे अगर कोई भी धर्म हो तो दुराचरण, जो इतना वढ गया है, वह बढना न चाहिए। यह विचार भूलसे भरा हुआ है। मनुष्य अपने सदाके अभ्यासके अनुसार अपना दोष न देखकर अपने औजारको दोष देता है। वैसे ही लोग अपनी खोटका विचार न कर धर्मको ही बुरा कहते है और स्वच्छन्द होकर जो जीमे आए वह करते और कहते है। यह देखकर अमरीका और यूरोप-मे ऐसे वहुतसे लोग निकल आए है जो यह सोचकर कि यो सब धर्मोका नाश हो जाय तो दुनियाकी भारी हानि होगी और लोग नीतिका रास्ता छोड देंगे, जुदा-जुदा रास्तोसे लोगोको नीति-पथपर लानेका प्रयास कर रहे है। एक ऐसा मडल स्थापित हुआ है जो सब धर्मोके तत्त्वोकी खोज करके यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि सभी धर्म नीति तो सिखाते ही है, उनका

आधार भी अविकाशमे नीतिके नियम ही होते है। और कोई आदमी धर्मविशेषको माने या न माने, पर वह नीतिके नियमोका पालन न कर सके तो ऐसे आदमीके किये इस लोक या परलोकमे अपना ,या दूसरेका भला नही होनेका। जो लोग कुछ पथो-सप्रदायोमे पाखडका बोलवाला देखकर धर्ममात्रको नफरतकी निगाहसे देखते है ऐसे लोगोकी शकाओका समाधान करना इस मडलका उद्देश्य है। इस मडलको चलानेवाले सब धर्मोका सार निकालकर उसमेसे केवल नीतिके विषयोकी चर्चा करते है। इस मतको वे नीति-धर्म अथवा 'एथिकल रिलिजन' कहते है। इस मडलका काम किसी भी धर्मका खडन करना नही है। चाहे जिस धर्मके माननेवाले उसमें दाखिल हो सकते है। इस मडलका लाभ यह होता है कि इस तरहके लोग अपने धर्मका अधिक दृढतासे पालन करने लगते है और उसमे नीतिके विषयमे जो उपदेश दिये गए हो उनपर अधिक ध्यान देते है। इस मडलके सदस्य पक्के मनसे मानते है कि मनुष्यको नीतिका पालन करना ही चाहिए और यह न हुआ तो दुनियाका विधान, व्यवस्था टूट जायगी और अतमे भारी हानि होगी। मिं० साल्टर नामके अमरीकाके एक विद्वान् है। उन्होने एक सुदर पुस्तक प्रकाशित की है। उसमे धर्मकी चर्चा नामको भी नही, पर उसके उपदेश सभी आदमियोपर घटित हो सकते है। इस पुस्तकके लेखकके विषयमे इतना ही कहना आवश्यक है कि जितना करनेकी सलाह वह हमे देता है उतना खुद भी करता है। पाठकोसे मेरा अनुरोध है कि जो कोई भी नीतिवचन उनको सच्चे जान पडे उनके अनुसार वे चलनेका यत्न करे तो मै अपने इस प्रयासको सफल मानूगा।

—मो० क० गाधी

नीति-धर्म

: १ :

प्रारंभ

जिस वस्तुसे हमारे मनमे अच्छे विचार उठते हो वह हमारी नीति, सदाचारका फल मानी जाती है। दुनियाके साधारण शास्त्र बताते है कि दुनिया कैसी है। नीतिका मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्गके द्वारा हम यह जान सकते है कि मनुष्यको किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्यके मनके भीतर सदा दो दर-वाजे होते है---एकसे वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरेसे उसे कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनोको अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जाय तो इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी हम उसका कोई लाभ नही उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदिका क्या फल होता

है और जहां ये तीनों इकट्ठे हो वहा कैसी खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नही है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीतिका विचार तो वास्तुविशारदके नकशे-के जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हो तो नकशा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति-का विचार नकशेकी तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीतिके वचन याद करते है, उस विषयपर भाषण करते है, पर उसके अनुसार चलते नही, और चलना चाहते भी नही। कितने ही तो यही मानते है कि नीतिके विचारोंको इस लोकमे नही, पर-लोकमे अमलमे लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नही माना जा सकता। एक विचार-वान् मनुष्यने कहा है कि हमे संपूर्ण होना हो तो हमें आजसे ही नीतिके अनुसार चलना है, चाहे इसमे कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पडे। ऐसे विचार सुनकर हमे चौक न उठना चाहिए, बल्कि अपनी जिम्मेदारी समभकर तदनुसार व्यवहार करनेमे प्रसन्न होना चाहिए। महान् योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोकके युद्धकी समाप्तिपर अर्ल डरबीसे मिला तो उन्होने

उसे खवर दी कि लडाई जीत ली गई। इस सूचनापर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नही बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथसे छीन लिया, मुझे लडाईमे शामिल होनेको बुलाया तो फिर मेरे पहुचनेके पहले लडाई न लडनी थी।" इस प्रकार नीतिमार्गमे जब किसीको जिम्मेदारी लेनेका हौसला हो तभी वह उस रास्तेपर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, सपूर्ण है, उसके बडप्पन, उसकी दया, उसके न्यायकी सीमा नही है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बदे समझे जाते है, नीतिमार्गको कैसे छोड सकते है? नीतिका आचरण करनेवाला विफल हो तो इसमे कुछ नीतिका दोष नही है, बल्कि जो लोग नीति भग करते है वे ही अपने आपको दोषभाजन बनाते है।

नीतिमार्गमे नीतिका पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करनेकी बात आती ही नही। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पानेके लिए नही, बल्कि इसलिए कि भलाई किए विना उससे रहा नही जाता। खूराक और भलाई दोनोकी तुलना करने पर भलाई ऊचे प्रकारका आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करनेका अवसर

दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवालेका एहसान-मद होता है, वैसे ही जैसे भूखा अन्न देनेवालेको दुआएं देता है ।

यह नीति-मार्ग ऐसा नही है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपरसे मनुष्यता आ जाय । उसका अर्थ यह नही है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ-लिख ले, थोडा अधिक साफ-सुथरे रहे, इत्यादि । यह सब उसके अदर आता है, पर इतनेके मानी तो यह हुए कि हम महज सरहदपर पहुंच पाए । इस मार्गके अंदर इनके सिवा और बहुतकुछ मनुष्यको करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है—यह सोचकर नही कि वैसा करनेसे हमे कोई लाभ होगा ।

: २ :

उत्तम नीति

नीति-विपयक प्रचलित विचार वजनदार नही कहे जा सकते । कुछ लोग तो मानते है कि हमे नीतिकी

बहुत परवा नही करनी है। कुछ मानते है कि धर्म और नीतिमे कोई लगाव नही है। पर दुनियाके धर्मोको वारीकीसे देखा जाय तो पता चलेगा कि नीतिके विना धर्म टिक नही सकता। सच्ची नीतिमे धर्मका समावेश अधिकाशमे हो जाता है। जो अपने स्वार्थके लिए नही, वल्कि नीतिके खातिर नीतिके नियमोका पालन करता है उसको धार्मिक कह सकते है। रूसमे ऐसे आदमी है जो देशके भलेके लिए अपना जीवन अर्पण कर देते है। ऐसे लोगोको नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी वेथमको, जिसने इगलैडके लिए बहुत अच्छे कानूनोके नियम ढूढ निकाले, जिसने अग्रेज जनतामे शिक्षाके प्रसारके लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियोकी दशा सुधारनेके यत्नमे जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते है।

फिर सच्ची नीतिका यह नियम है कि हम जिस रास्तेको जानते हो उसको पकड लेना ही काफी नही है, वल्कि जिसके वारेमे हम जानते हो कि वह सही रास्ता है——फिर उस रास्तेसे हम वाकिफ हो या न हो——उसपर हमे चलना ही चाहिए। यानी जव हम जानते हो कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तव निर्भय होकर उसपर कदम बढा ही देना चाहिए।

इसी नीतिका पालन किया जाय तभी हम आगे बढ सकते है। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने मे आती है।

अपनी इच्छाओकी जांच करे तो हम देखेगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नही होता। जो चीज अपने पास नही होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आकते है। पर इच्छा दो प्रकार-की होती है। एक तो होती है अपना निजका स्वार्थ साधनेकी। ऐसी इच्छाको पूरा करनेके प्रयत्नका नाम अनीति है। दूसरी प्रकारकी इच्छाए ऐसी होती है कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरोका भला करनेकी ओर होता है। हम कोई भला काम करे तो उसपर हमे गर्वसे फूल न जाना चाहिए। हमे उसका मूल्य नही आकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करनेकी इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओके पूरा करनेके लिए जो आचरण किया जाय उसको सच्ची नीति कहते है।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमे लज्जित होने-की कोई बात नही है, पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करे, जो धधा-रोजगार करे उसमे लोगोको ठगे तो हम नीतिके मार्गसे च्युत हो गए।

जो करना हमें उचित है उसे करनेमें नीति है। इस तरह नीतिकी आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणोंसे सिद्ध कर सकते हैं। जिस जनसमाज या कुटुंबमें अनीतिके बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखनेमें आते हैं वह जनसमाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगारकी मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्यका पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाईका असर कुछ बाहरसे नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोपमें अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घडीभर शान्तिसे न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगोंमें नीति न थी। हम नीतिके समस्त नियमोंका दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जातिका भला करनेका प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजीसे नीति रूपी संदूकको खोलकर देखा जाय तो नीतिके दूसरे नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

इन अध्यायोंके नीचे हम गुजराती या उर्दू कवियोंकी नीति-नियमोंसे संबंध रखनेवाली कविताएं चुनकर देते जायंगे इस आशासे कि

उनका लाभ हमारे सभी पाठक लेगे और हमारे युवक पाठक तो उन्हे कठस्थ भी करेगे। इसका श्रीगणेश हम श्रीमलबारीकी पुस्तक 'आदम अने तेनी दुनिया' ('आदम और उनकी दुनिया') से कर रहे है[1].

क्यु (क्यो) मुश्ताक होके तु (तू) फिरता बिरादर ?
अये (ऐ) दाना[2] तवाना[3] होनार तमे हाजर (होना है तुझे, हाजिर)
चले गये बडे फिलसुफा[4] पहलवानाँ।
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना (दीवाना)।
न दाना की दानाई हर दम टकेगी (टिकेगी);
न नेका वी (भी) हरदम गुजारेंगे नेकी।
किसे यारी हरदम ने (को) देता जमाना;
अरे दोस्त दाना, तु (तू) होगा दिवाना।
कुवत[5] (कूवत) पोलतन की तु (तू) लेके फिरेगा।
जमाना अचानक शिकस्त[6] आके देगा।
अकलकी नकल वे अकल बम बनाना,
अरे दोस्त दाना तु (तू) होगा दिवाना।
गुजारे (की) अवल बचगीकी बादशाही,
होनारत[7] दरद (दर्द) देवे जमकी गवाही।

---

[1] उर्दू हिंदी पद्योके कितने ही शब्द अशुद्ध या गुजराती रूपमें हैं। उनके वही रूप रहने दिये गए हैं और शुद्ध रूप कोष्ठमें दे दिये गए हैं।—अनु०

[2] बुद्धिमान, [3] बलवान, [4] फिलासफर, तत्त्ववेत्ता, [5] बल; [6] हार, पराजय, [7] होनेवाली पीडा

बेताका(क)त को(कि)स राह उठाना सोलाना (सुलाना),
अरे दोस्त दाना, तु (तू) होगा दिवाना।
न दुनियामें तेरा हुवा को (कोई) न होगा,
न तु (तू) तेरा होवे हसेगा वा रोगा (रोयेगा),
सिवा पाक दादार[1] सबकोइ (कोई) बेगाना,
अरे दोस्त दाना, तु (तू) होगा दिवाना।

: ३ :

नीतियुक्त काम कौनसा ?

क्या हम यह कह सकते है कि अमुक काम नीति-युक्त है ? यह सवाल करनेमे नीतिवाले और बिना नीतिके कामोकी तुलना करनेका हेतु नही है, बल्कि जिन कामोके खिलाफ लोग कुछ कहते नही, और कितने ही जिन्हे नीतियुक्त मानते है, उनके विषयमे विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामोमे खास तौरसे नीतिका समावेश नही होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाजके अनुसार आचरण करते है। इस तरह रूढिके अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमोका अनुसरण हम न करे तो अधा-

---

[1] परमेश्वर

धुधी चलने लगे और दुनियाका कार-बार बद हो जाय, पर यो रूढिके पीछे चलनेको नीतिका नाम देना मुनासिब नही कहा जा सकता ।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए जो हमारा अपना है यानी जो हमारी इच्छासे किया गया हो। जबतक हम मशीनके पुरजेकी तरह काम करते हो तबतक हमारे काममे नीतिका प्रवेश नही होता । मशीनके पुरजेकी तरह काम करना हम पर फर्ज हो और हम करे तो यह विचार, नीतियुक्त है, क्योकि हम उसमे विवेक-बुद्धिसे काम लेते है। यह यान्त्रिक काम और वह काम करनेका विचार करना, इन दोनोमे जो भेद है वह ध्यानमे रखने योग्य है। राजा किसीका अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है, पर माफीकी चिट्ठी ले जानेवाले चपरासीका राजाके किये हुए नीतिमय कार्यमे यान्त्रिक भाग है। हा, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमागसे काम नही लेता और जैसे लकडी बहती है वैसे प्रवाहमे बहता जाता है वह नीतिको कैसे समझेगा ? कितनी ही बार मनुष्य रूढिके विरुद्ध होकर परमार्थ करनेके इरादेसे

कर्म करता है। महावीर वेडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक वार लोगोके सामने भाषण करते हुए कहा था, "जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नही सीख लेते तबतक मेरे बारेमे तुम क्या सोचते हो इसकी मुझे चिता नही है।" यह स्थिति हमे तबतक प्राप्त नही होनेकी, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगे कि सबका अतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्यका साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वत अच्छा हो इतना ही काफी नही है, वह काम हमने अच्छा करनेके इरादेसे किया हो यह भी जरूरी है। अर्थात् कार्य-विशेषमे नीति होना न होना करनेवालेके इरादेपर अवलबित होता है। दो आदमियोने एक ही काम किया हो, फिर भी एकका काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरेका नीतिरहित। जैसे एक आदमी दयासे द्रवित होकर गरीबोको खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरहके स्वार्थी विचारसे वही काम करता है। दोनोका काम एक ही है, फिर भी पहलेका काम नीतियुक्त माना जायगा और दूसरेका नीति-रहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दोके बीच जो अतर है, वह यहा पाठकोको याद रखना है।

यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त कामका असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीतिके विषयमे विचार करते हुए हमे इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतुसे किया गया है। उसके फलपर हमारा बस नही, फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहशाह सिकदरको इतिहासकारोने महान् माना है। वह जहा-जहां गया वहा यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओ आदिको प्रचलित किया और उसका फल हम स्वादसे चख रहे है। पर यह सब करनेका उद्देश्य वडप्पन पाना था, अत कौन कह सकेगा कि उसके काममे नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर नीतिमान नही कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारोसे सावित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादेसे किया हुआ हो, इतना ही काफी नही है, वल्कि वह विना दवावके भी किया हुआ होना चाहिए। मै दफ्तर देरसे पहुचू तो नौकरीसे हाथ धोऊगा, इस डरसे मै तडके उठू तो इसमे रत्तीभर भी नीति नही है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मै गरीवी और सादगीकी जिन्दगी विताऊ तो इसमे भी नीतिका योग नही है, पर मै

धनवान होते हुए भी सोचू कि मै अपने आस-पास दरिद्रता और दु ख देख रहा हू, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीवीमें और सादगीके साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोडकर भाग जायगे इस डरसे उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हे अच्छी या अधिक तनखाह दी जाय तो इसमे नीति नही रहती, वल्कि इसका नाम स्वार्थबुद्धि है। मै उनका भला चाहू, मेरी समृद्धिमे उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हे रखू तो इसमे नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जवर्दस्तीसे या डरकर न किया गया हो। इगलैडके राजा दूसरे रिचर्डके पास जब आखे लाल किये हुए किसानोका समुदाय अनेक अधिकार मागने पहुचा तो उसने अपने हाथसे अधिकार-पत्र लिखकर उसके हवाले कर दिया, पर जब किसानोका डर दूर हो गया तब उस फरमानको उसने जोर-जुल्मसे वापस ले लिया। अव कोई कहे कि रिचर्डका पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्डका पहला काम केवल भयसे किया गया था, इसलिए उसमें नीति छू तक नही गई थी।

जैसे नीतियुक्त काममे डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमे स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहनेमे यह हेतु नही है कि जिस काममे स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस कामको नीतियुक्त कहे तो यह नीतिको धब्बा लगानेके समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहारनीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नही टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभकी दृष्टिसे की गई हो वह प्रीति नही।[1]

जैसे इस लोकमे लाभके उद्देश्यसे किया हुआ काम नीतियुक्त नही माना जा सकता वैसे ही परलोकमे लाभ मिलेगा, इस आशासे किया हुआ काम भी नीति-रहित है। भलाई भलाईके लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान् जेवियरने ईश्वरसे प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मतसे भगवानकी भक्ति इसलिए नही करनी थी कि मरनेके बाद उत्तम दशा भोगनेको मिले, वह भक्ति इसलिए करता था

---

[1] एक उर्दू कविने भी यही बात कही है—"दोस्ती और किसी गरजके लिए, यह तिजारत है, दोस्ती ही नहीं।"—अनु०

कि वह मनुष्यका कर्त्तव्य है। महान् भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथमे मशाल और बाए हाथमे पानीकी बाल्टी यह जतानेके लिए रखना चाहती थी, कि मशालसे स्वर्गके सुखको जला डाले और पानीसे दोजखकी आग बुझा दे, जिससे इन्सान दोजखके भयके बिना खुदाकी इबादत करे। इस तरहकी नीतिका पालन उस आदमीका काम है जो सिरपर कफन बाधे फिरता हो। मित्रके साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मनसे दगाबाजी करना यह नामर्दीका काम है। डर-डरकर भले काम करने-वाला नीति-रहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभावका माना जाता था। उसने अपने लोभके आगे अपनी नीतिकी बलि देदी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था, पर पैसेके लिए एक बार वह कातर हो गया। एक हलके कामसे अपने दूसरे अच्छे कामोको धो डाला। इस उदाहरणसे हम देख सकते है कि मनुष्यकी नीतिकी परीक्षा करना कठिन है, क्योकि उसके मनकी परख हम नही कर सकते। इसी प्रकार इस प्रकरणके आरभमे नीतियुक्त काम कौन है यह जो प्रश्न किया गया है, उसका जवाब भी हमे मिल चुका। कैसे आदमी

नीतिका पालन कर सकते है यह हमने अनायास ही देख लिया।

ऊपरके विषयसे मेल रखनेवाली कविता

हरिनो मारग छे शूरानो कायरनु नहि काम जोने,
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वळती लेवु नाम जोने।
सुत वित्त दारा शीश समर्पे ते पामे रस पीवा जोने;
सिधु मध्ये मोती लेवा, माहि पड्या मरजीवा जोने।
मरण आगमें ते भरे मुट्ठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे उभा ते जूए तमाशो, ते कोडी नव पामे जोने;
प्रेम पथ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने,
माहि पड्या ते महासुखमाणे, देखनारा दाझे जोने।
माथा साटे मोधी वस्तु, सापडवी नहि सहेल जोने,
महापद पाम्या ते नर जीव्या, मूकी मननो मेल जोने।

भावार्थ—हरिका मार्ग शूर-वीरके लिए है, उसमे कायरका काम नही। उसपर चलनेवाला पहले अपना सिर दे, उसके वाद उसका नाम ले। जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और अतमे अपना शीश भी समर्पण कर दे, वही उसका रस पी सकता है। मरजीया मोती पानेके लिए समुद्रके भीतर पैठता है। जो मौतके मुहमे पैठे वही मोतियोसे अपनी मुट्ठी भर और हृदयकी पीडा मेट सकता है। किनारे खडा

रहनेवाला तमाशा भर देखता है, उसके हाथ एक कौडी भी नही लगती। प्रेमका पथ पावककी ज्वाला है। जो उसके भीतर घुसता है वह महासुख अनुभव करता है। देखकर भागने और दूर खडा रहनेवाला उसकी आचसे जलता है। सिर देकर उसके वदले दुर्लभ वस्तुका पाना सरल नही है। ऐसे लोग अपने मनका मैल त्याग करके महापदको प्राप्त कर अमर होते है।

: ४ :

अच्छा नियम कौनसा है?

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारेमे हम सदा मत प्रकट किया करते है। कुछ कामोसे हमे सतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते है। कार्यविशेपके भले या बुरे होनेका आधार इस वातपर नही होता कि वह काम हमारे लिए लाभजनक है या हानिकारक, पर उसकी तुलना करनेमे हम जुदे ही पैमानेसे काम लिया करते है। हमारे मनमे कुछ विचार रम रहे होते है, उन्हीके आधारपर

हम दूसरे आदमियोके कामोकी परीक्षा किया करते है। एक आदमीने दूसरे आदमीका कोई नुकसान किया हो तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो, उस कामको हम खराब मानते है। कितनी ही बार नुकसान करनेवालेकी ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमे तनिक भी हिचक नही होती। यह भी हो सकता है कि कितनी ही बार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्योका हेतु हम सदा देख नही सकते, इससे हम गलत परीक्षा किया करते है। फिर भी हेतुके प्रमाणमे कामकी परीक्षा करनेमें वाधा नही होती। कुछ बुरे कामोसे हमे लाभ होता है, फिर भी हम मनमे तो समझते ही है कि वे वुरे है।

अत यह सिद्ध हुआ कि किसी कामके भले या वुरे होनेका आधार मनुष्यका स्वार्थ नही होता। उसकी इच्छाए भी इसका आधार नही होती। नीति और मनकी वृत्तिके वीच सदा सवध देखनेमें नही आता। वच्चेपर ममता होनेके कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते है, पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते है कि उसे देनेमे अनीति है। स्नेह दिखाना वेशक अच्छी वात है, पर नीति-

विचारके द्वारा उसकी हद न बाध दी गई हो तो वह विषरूप हो जाता है ।

हम यह भी देखते है कि नीतिके नियम अचल है । मत बदला करते है, पर नीति नही बदलती । हमारी आखे खुली हो तो हमे सूरज दिखाई देता है, बद हो तो नही दिखाई देता । इसमे हमारी निगाहमें हेर फेर हुआ, न कि सूरजके होनेमे । नीतिके नियमोके बारेमे भी यही समझना चाहिए । हो सकता है कि अज्ञान दशामे हम नीतिको न समझ सके । जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमे समझनेमे कठिनाई नही पडती । मनुष्य सदा भलेकी ओर ही निगाह रखे, ऐसा क्वचित् ही होता है । इससे अकसर स्वार्थकी दृष्टिसे देखकर अनीतिको नीति कहता है । ऐसा समय तो अभी आनेको है जब मनुष्य स्वार्थका विचार त्यागकर नीति-विचारकी ओर ही ध्यान देगा । नीतिकी शिक्षा अभी बिलकुल बचपनकी अवस्थामे है । बेकन और डार्विनके पहले शास्त्रकी जो स्थिति थी वही आज नीतिकी है । लोग सच्चा क्या है उसे देखनेको उत्सुक थे । नीतिके विषयको समझनेके बदले वे पृथ्वी आदिके नियमोकी खोजमे लगे हुए थे । ऐसे कितने विद्वान् आपको

दिखाई दिए है जिन्होने लगनके साथ कष्ट सहकर पिछले वहमोको एक ओर रखकर नीतिकी खोज मे जिदगी बिताई हो ? जब प्राकृतिक रहस्योकी खोज करनेवाले आदमियोकी तरह वे नीतिकी खोज-करनेमे तल्लीन रहे तब हम यह माने कि अब नीति-विषयके विचार इकट्ठे किये जा सकते है। शास्त्र या विज्ञानके विचारोके विषयमे आज भी विद्वानोमे जितना मतभेद रहता है उतना नीतिके नियमोके विषयमे होना मुमकिन नही। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसेतक हम नीतिके नियमोंके विषयमे एक राय न रख सके, पर उसका अर्थ यह नही है कि हम खरे-खोटेका भेद नही समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्योकी इच्छासे अलग नीतिका कोई नियम है, जिसे हम नीतिका नियम कह सकते है। जब राजनैतिक विषयोमे हमे नियम-कानून दरकार है तब क्या हमे नीतिके नियमोका प्रयोजन नही है, भले ही वह नियम मनुष्य लिखित न हो ? वह मनुष्य लिखित होना भी न चाहिए। और अगर हम नीति-नियमोका अस्तित्व स्वीकार करे तो जैसे हमे राजनैतिक नियमोके अधीन रहना पडता है वैसे ही नीतिके नियमोके

अधीन रहना भी हमारा कर्त्तव्य है। नीतिके नियम राजनैतिक और व्याक्सायिक नियमोसे अलग तथा उत्तम है। मुझसे या दूसरे किसीसे यह नही बन सकता कि व्यावसायिक नियमोके अनुसार न चलकर मै गरीव बना रहू तो क्या हुआ ?

यो नीतिके नियम और दुनियादारी नियमके बीच भारी भेद है, क्योकि नीतिका वास हमारे हृदयमे है। अनीतिका आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा––झूठा सच्चा कभी नही हो सकता। और जहा जन-समाज बहुत दुष्ट हो वहा भी लोग नीतिके नियमोका पालन न करते हो तो भी पालनका ढोग करेगे, अर्थात् नीतिका पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियोको भी कबूल करनी पडती है। ऐसी नीतिकी महिमा है। इस प्रकारकी नीति रीति-रिवाज या लोकमतकी परवा नही करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहातक नीतिके नियमका अनुसरण करता दिखाई दे वहीतक नीतिमान् पुरुषको वह बधनकारक है।

ऐसा नीतिका नियम कहासे आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढता नही, क्योकि भिन्न-भिन्न राज्योमे जुदा-जुदा कानून-कायदे देखनेमे आते है।

सुकरातके जमानेमे, जिस नीतिका अनुसरण वह करता था, बहुतसे लोग उसके विरुद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अग्रेजी कवि राबर्ट ब्राउनिग कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनियामे द्वेष और झूठकी दुहाई फिरा दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेगे। इसपरसे यह कह सकते है कि नीतिके नियम सर्वोपरि है और ईश्वरीय है।

ऐसे नियमका भंग कोई प्रजा या मनुष्य अंततक नही कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अतमे उड़ जाता है वैसे ही अनीतिमान् पुरुषका भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोनमे अनीतिका घडा भरा नही कि तत्काल फूट गया। रोमने जब अनीतिका रास्ता पकडा तब उसके महान् पुरुप उसका बचाव न कर सके। ग्रीसकी जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीतिको टिका न सकी। फ़ासमे विप्लव हुआ, वह भी अनीतिके ही विरोधमे। वैसे ही अमरीकामे भला वेडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दीपर बैठी हो तो भी टिकनेकी नही। नीतिके इस अद्-भुत नियमका मनुष्य जो पालन करता है वह ऊपर

उठता है, जो कुटुम्ब पालन करता है वह बना रह सकता है और जिस समाजमें उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है। जो प्रजा इस उत्तम नियमका पालन करती है वह सुख, स्वतत्रता और शातिको भोगती है।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता '

मन तुहि तुहि बोलेरे, आसुपना जेवु तन तारू,
अचानक उड़ीजाशे रे, जेम देवतामा दारू।
झाकळ जळपळमा वळीजाशे, जेम कागळने पाणी,
काया वाडी तारी एम करमाशे, थइ जाशे धूळधाणी।
पाछ्ळथी पस्ताशेरे, मिथ्या करी मारू मारू।
काचनो कुपो काया तारी, वणसता न लागे वार।
जीवकायाने सगाई केटली, मूकी चाले वनमोझार,
फोकट पुल्या फरवुरे, ओचिन्तु थाशे अधारू।
जायु ते तो सर्वे जवानुं, उगरवानो उधारो,
देव, गाधर्व, राक्षसने माणस सउने मरणनो वारो।
आशानो महेल उचोरे, नीचु आ काचु कारभारु।
चचल चित्तमा चेतीने चालो, भाळो हरिनु नाम,
परमारथ जे हाथे ते साथे करो रहेवानो विश्राम।
धीरो धराधरथीरे कोई न थी रहेनारू मन०

—काव्यदोहन

भावार्थ—मन, यह तेरा तन सपनेके जैसा है। अचानक इस तरह उड जायगा जैसे आगमे डाली

हुई गराव। ओसका पानी पलमे उड़ जायगा कागजपर पानीके समान। उसी प्रकार तेरी कायारूप वाडी सूखकर नष्ट हो जायगी। पीछे पछतायगा। तू व्यर्थ 'मेरा' 'मेरा' करता है। तेरी काया शीगेकी कुप्पी जैसी है, उसके नष्ट होते देर न लगेगी। जीव और देहका नाता ही कितना? एक दिन जीव उसे तजकर चल देगा। इस जीवनपर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जायगा। जो जन्मा है वह सभी जानेवाला है, इसमेसे वचना कठिन है। देवता, गधर्व, राक्षस, मनुष्य सवके मरणका दिन नियत है। आगाका महल ऊंचा और इस दुनियाका कच्चा कारवार नीचा है। तू चंचल चित्तमे चेतकर चल और भगवानका नाम ले। जो परमार्थ कमा लेगा वही साथ जायगा। ऐसा ठिकाना पानेका उपाय कर, जहां तेरी आत्माको विश्राम मिले। 'धीरो' (भगत) कहता है कि इस पृथ्वीसे ऊपर कोई नही रहनेवाला है।

: ५ :

नीतिमें धर्मका समावेश है ?

इस प्रकारका विषय कुछ विचित्र माना जायगा आम खयाल यह है कि नीति और धर्म दो अलग चीज है। फिर भी इस प्रकरणका उद्देश्य नीतिको धर्म मानकर विचार करना है। इससे कितने ही पाठक ग्रथकारको उलझनमे पडा हुआ मानेगे। जो मानते है कि नीतिमे धर्मका समावेश नही होता और जो यह मानते है कि नीति हो तो धर्मकी आवश्यकता नही है, दोनो पक्ष यह आरोप करेगे। फिर भी नीति और धर्ममे निकट सबध है, यह दिखाना ग्रथकारका निश्चय है। नीतिधर्म या धर्मनीतिका प्रसार करनेवाले मडल भी धर्मको नीतिद्वारा मानते है।

यह बात स्वीकार करनी होगी कि सामान्य विचारमे नीतिके बिना धर्मकी स्थिति सभव है। ऐसे वहुतेरे दुराचरणी पुरुप देखनेमे आते हैं जो अघोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होनेका गर्व रखते है। इसके विपरीत स्व० मि० ब्रेडला जैसे नीतिमान पुरुष पडे है जो अपने आपको नास्तिक कहनेमे गर्व अनुभव करते है और धर्मका नाम सुनकर

भागते हैं । ये दोनो मतवाले मनुष्य भूल करते है और पहले मतवाले तो भूले ही नही है, धर्मके बहाने अनीतिका आचरण कर खतरनाक भी हो गए है । इसलिए इस प्रकरणमे मै यह दिखाऊगा कि बुद्धि और शास्त्र दोनोके द्वारा देखनेसे नीति और धर्म एक ही दिखाई देते है और उन्हे एक जगह रहना भी चाहिए ।

पुरानी नीति केवल ससारी थी, यानी लोग यह सोचकर व्यवहार करते थे कि हम इकट्ठे रहकर कैसे निभा सकते है । यो करते-करते जो भली रीति थी वह कायम रही और बुरी रीति नष्ट हो गई । बुरी नीति नष्ट न होती तो उसके अनुसार चलनेवालो हीका नाश हो जाता । ऐसा होना हम आज भी देख रहे है । जो अच्छे रिवाज आदमी जाने-अनजाने चलाया करता है वह न नीति है और न धर्म । फिर भी दुनियामे जो काम नीतिके अदर आते है वे ऊपर बतलाये हुए भले रिवाज ही है ।

फिर धर्मकी कल्पना भी अकसर मनुष्यके मनमे महज ऊपर-ऊपरसे ही रहती है । कितने ही समय हम अपने ऊपर आते हुए खतरोको दूर करनेके लिए कोई धर्म मानते है । यो भयसे या प्रीतिसे किये गए कार्यको धर्म मानना भूल है ।

पर अतमे ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य सकल्प-पूर्वक सोच-विचारकर नफा हो या नुकसान, वह मरे या जिए, दृढ निश्चयके साथ अपना सर्वस्व होमनेको तैयार रहकर नीतिके रास्तेपर चलता और बिना मुह पीछे किए कदम बढाता जाता है। तब माना जायगा कि उसपर नीतिका रग चढा।

ऐसी नीति धर्मके सहारेके बिना कैसे टिकेगी ? दूसरे आदमीका थोडासा नुकसान करके अपना कुछ लाभ कर सकू तो मै वह नुकसान क्यो न करू ? दूसरे-की हानि करके होनेवाला लाभ लाभ नही, हानि है। यह घूट मेरे गलेसे कैसे उतरे ? बिस्मार्कने ऊपरसे देखनेमे जर्मनीका हित करनेके लिए अति भयानक कर्म किए। उसकी शिक्षा कहा चली गई ? सामान्य समयमे बच्चोके साथ वह नीतिके वचनोकी जो बकवास करता था वे वचन कहा गुम हो गए ? उनको याद करके उसने नीतिका पालन क्यो नही किया ? इन सारे प्रश्नोका उत्तर स्पष्ट रीतिसे दिया जा सकता है। ये सारी अडचने आई और नीति नही पाली गई, इसका कारण यही है कि इस नीतिमे धर्म नही समाया हुआ था। नीति रूपी बीजको जबतक धर्म-रूपी जलका सिचन नही मिलता तबतक उसमे अकुर

नही फूटता। पानीके बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लंबे अरसेतक पानी न पाए तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीतिमे सच्चे धर्मका समावेश होना चाहिए। इसी वातको दूसरी रीतिसे यों कह सकते है कि धर्मके बिना नीतिका पालन नही किया जा सकता, यानी नीतिका आचरण धर्मरूपमे करना चाहिए।

फिर हम यह भी देखते है कि दुनियाके बडे धर्मोमे जो नीतिके नियम वताये गए है वे अधिकाशमे एक ही है और उन धर्मोके प्रचारकोने यह भी कहा है कि धर्मकी वुनियाद नीति है। नीवको खोद डालिए तो घर अपने आप ढह जायगा। वैसे ही नीतिरूपी नीव टूट जाय तो धर्मरूपी इमारत भी दो-चार दिनमे ही भूमिसात हो जायगी।

ग्रथकार यह भी वताता है कि धर्म और नीतिको एक कहनेमे कोई अडचन नही है। डाक्टर क्वाइट इवादतमे यह कहता है—"या खुदा, नीतिके सिवा मुझे दूसरा खुदा न चाहिए।" हम जरा सोचे तो देखेगे कि हम मुहसे तो खुदा या ईश्वरको पुकारे और वगलमे खजर छिपाये रखे—'मुखमे राम वगलमे छुरी'को चरितार्थ करे तो क्या खुदा या ईश्वर हमारी

फरियाद सुनेगा ? एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओंको तोडता है, दूसरा नामसे तो ईश्वरको नही पहचानता, पर अपने कामसे उसको भजता है और ईश्वरीय नियमोंमे उनके कर्त्ताको देखता है और देखकर उसके कानूनोका पालन करता है—इन दोनोंमे हम किसे धर्मवान और नीतिमान माने ? इस सवालका जवाब देनेमे हम क्षणभर भी सोचे-विचारे विना पक्के तौरपर कह सकते है कि दूसरा आदमी धर्मवान् और नीतिमान माना जायगा।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता—

प्रभु प्रभु पूछत भवगयो भई नहि प्रभु पिछान (पहचान),
खोजत सारा जग फीरो (फिर्यो) मिले न श्री भगवान्।
सहस्र (स) नाम से सोचको एक न मिलो जवाव,
जप तप कि(की)ना जन्म तक (भर) हरी हरी (हरि हरि)—
गी(गि)ने हिसाव॥
साधु-सतो(सन्त)को सग किनो वेद-पुरान अभ्यास,
फिर वी(भी) कछु दर्शन नहि (नहीं), पायो प्राण उदास।
कहोजी प्रभु अव क्यु(क्यो) मिले सोचु(चू) जीकु(को) आज,
जन्म जुदाई यह भई कछु नहि सुझत इलाज।
अंतर्यामी तव कहे "क्यु तु (क्यो तू) होवे कृतार्थ ?
प्रभु वकवत[1] फोकट[2] फिरे निसि-दिन ढुढत (ढूढत) स्वार्थ,"

---

[1] प्रभुके नामका वकवास रटता हुआ, [2] व्यर्थ

मुख 'प्रभु' नाम पुकारता, अंतरमें अहकार;
दंभी ऐसे दंभसे, दि(दी)नानाथ मिलनार[1] ?
ठगविद्या मं (में) निपुण भयो, प्रथम ठगे मा-बाप;
सकल जगत कुं(को) ठगत तुं(तू), अंत ठग रह्यो आप ।
सुनते शुद्ध बुद्ध (सुध बुध) खुल गई, प्रकट्यो पश्चाताप,
उलट पुलट करीने (करके) गयो, आपहि खायो थाप ।[2]

—बहरामजी मलबारी

: ६ :

नीतिके विषयमें डार्विन[1]के विचार

जो भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छासे ही करना इसीमे हमारी भलमनसी है। । आदमीकी

[1] मिलनेवाले; [2] थप्पड़; गुजरातीमें इस शब्दका अर्थ धोखा भी होता है।

[1] डार्विन पिछली सदीमें एक महान् यूरोपीय हो गया है। उसने शास्त्रकी महती खोजें की है। उसकी स्मरणशक्ति और अवलोकनशक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। उसने कितनी ही पुस्तकें लिखी है, जो अति पठनीय और मननीय हैं। उसने बहुतसी मिसालो और दलीलोसे यह दिखाया है कि आदमीकी आकृतिकी उत्पत्ति एक तरहके बदरोसे हुई है। यानी बहुत तरहके प्रयोग और बहुतसी जाच-पडताल करते हुए उसे यह दिखाई दिया कि आदमीकी शकल और बदरकी शकलमें बहुत फर्क नहीं है। यह

शराफतकी सच्ची पहचान यह है कि वह पवनके प्रवाहसे इधर-उधर भटकते हुए बादलोकी तरह धक्का खानेके बजाय अपनी जगहपर अचल रहे और जो उसे उचित जान पडे वह करे और कर सके ।

यह होते हुए भी हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है यह हमे जान लेना चाहिए । हम जानते है कि हम हर तरहसे अपने मालिक खुद नही है हममे बाहरकी कितनी ही स्थितिया है जिनका अनुसरण करते हुए हमे चलना होता है। जैसे जिस देशमे हिमप्रदेशकी-सी ठड पडती है वहा हमारी इच्छा हो या न हो फिर भी शरीरको गरम रखनेके लिए हमे कायदेसे कपडे पहनने ही पडते है। यानी हमे समझदारीके साथ व्यवहार करना पडता है ।

तब सवाल यह उठता है कि अपनी बाहरकी और आसपासकी परिस्थितिको देखते हुए हमे नीतिके अनुसार आचरण करना पडता है या नही, अथवा हम

ख्याल सही है या नहीं, इससे नीतिके विषयका कुछ बहुत नजदीकका संबंध नहीं है। पर डार्विनने ऊपर लिखा विचार प्रकट करनेके साथ-साथ यह भी जताया है कि नीतिके विचार मानव-जातिपर क्या असर डालते है। और डार्विनने जो कुछ लिखा है उसपर बहुतेरे विद्वानोकी श्रद्धा है, इसलिए डार्विनके विचारोपर यह प्रकरण लिखा है।

हम इस बातकी कोई परवा नही कर पा रहे है कि हमारे बरतावमे नीति है या अनीति ।

इस प्रश्नपर विचार करते हुए डार्विनके मत की जाच-पडताल करना जरूरी होता है। डार्विन यद्यपि नीतिके विषयपर लिखनेवाला पुरुष न था, फिर भी उसने बता दिया है कि बाहरकी वस्तुओ-के साथ नीतिका लगाव कितना गहरा है। जो लोग यह सोचते है कि मनुष्य नीतिका पालन करते है या नही, इसकी परवा हमे नही करनी है और दुनियामे केवल शारीरिक तथा मानसिक बल ही काम आता है, उन्हे डार्विनके ग्रथ पढने चाहिए। डार्विनके कथनानुसार मनुष्यो और दूसरे प्राणियोमे भी जीते रहनेका लोभ रहता है। वह यह भी कहता है कि जो इस संघर्षमे जीवित रह सकता है वही विजयी माना जाता है और जो योग्य नही है वह जडमूलसे नष्ट हो जाता है, पर इस सघर्षके मुकाबलेमे हम केवल शरीर बलसे टिक नही सकते।

हम आदमी, भैस और रीछकी तुलना करे तो मालूम होगा कि शरीर-बलमे रीछ या भैस आदमीसे बढे हुए है और आदमी उनमेसे किसीके साथ कुश्ती लडे तो हार जायगा, पर यह बात होते हुए भी

अपनी बुद्धिकी बदौलत वह उनसे अधिक बली है। ऐसी ही तुलना हम मानव-जातिकी जुदा-जुदा कौमोके बीच कर सकते है। युद्धकालमे जिसके पास अधिक बल या अधिक सख्या वाले आदमी हो वही जीते, ऐसा नही होता, बल्कि जिसके पास कला-कौशलका बल और अच्छे नेता होते है वह जाति अल्पसख्यक या शरीर-बलमे कम हो तो भी विजयी होती है, यह दृष्टात हमने बुद्धिबलका देखा।

डार्विन हमे यह बताता है कि नीतिबल शरीरबल और बुद्धिबल दोनोसे बढकर है और योग्य मनुष्य अयोग्यसे अधिक टिक सकता है। इस बातकी सच्चाई हम अनेक रूपोमे देख सकते है। कितने ही लोग यह मानते है कि डार्विनने तो हमे यही सिखाया है कि जो शूर है और शरीरबलमे भरपूर है वही अतमे पार लगता है। और यो ऊपर-ऊपरसे ही विचार करनेवाले लेभग्गू आदमी मान लेते है कि नीति हमारे लिए बेकार चीज है। पर डार्विनका यह विचार बिलकुल न था। प्राचीन इतिहास तथा दत-कथाओसे यह देखा गया है कि जो जातिया अनीति-मान थी वे आज नामशेष हो गई है। सोडम और गमोराके लोग बडे दुराचारी थे। इससे ये देश मिट

गए। आज भी हम देख सकते है कि जो जाति या राष्ट्र अनीतिमान है उसका नाश होता जा रहा है।

अब हम कुछ मामूली मिसाले लेकर देखे कि साधारण नीति भी मानव-जातिकी सलामतीके लिए कितनी जरूरी है। शात स्वभाव नीतिका एक अग है। उसपरसे देखनेसे ऐसा जान पडेगा कि घमडी मनुष्य आगे बढ सकता है, पर थोडा विचार करके भी हम देख सकते है कि मनुष्यकी गर्वरूपी तलवार अतमे अपनेही गलेपर गिरती है। मनुष्य नशेका सेवन न करे, यह नीतिका दूसरा विषय है। आकडे देखनेसे विलायतमे यह देखनेमे आया है कि तीस बरसकी उम्रवाले शराबी और तेरह या चौदह बरससे अधिक नही जीते, पर निर्व्यसन मनुष्य ७० बरसकी आयु भोगता है। व्यभिचार न करना नीतिका तीसरा विषय है। डार्विनने बताया है कि व्यभिचारी मनुष्य बहुत जल्दी नाशको प्राप्त होता है। उसके सतान पहले तो होती ही नही और हो तो मरियल-सी दिखाई देती है। व्यभिचारी मनुष्यका मन हीन हो जाता है और ज्यो-ज्यो दिन बीतते है उसकी शकल पागलकी-सी होती जाती है।

जातियोकी नीतिका विचार करनेपर भी हमे

यही स्थिति दिखाई देगी। अडमन टापूके पुरुष अपनी स्त्रियोको, ज्योही बच्चे चलने-फिरने लायक हुए, त्याग देते है। अर्थात् परमार्थ बुद्धि दिखानेके बदले अत्यन्त स्वार्थ बुद्धिका परिचय देते है। नतीजा यह हुआ है कि उस जातिका धीरे-धीरे नाश होता जा रहा है। डार्विन बताता है कि पशुओमे भी एक हद-तक परमार्थ बुद्धि देखनेमे आती है। भीरु स्वभाव वाले पक्षी भी अपने बच्चोकी रक्षा करनेके समय बल-वान बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणिमात्रमे परमार्थबुद्धि थोडी बहुत भी न होती तो आज दुनियामे घासपात और जहरीली वनस्पतियोके सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियोमे सबसे बडा अतर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। दूसरोके लिए अर्थात् अपनी नीतिके प्रमाणमे अपने बच्चोके लिए, अपने देशके लिए अपनी जान कुरबान करता आया है।

इस प्रकार डार्विन स्पष्ट रीतिसे बताता है कि नीतिबल सर्वोपरि है। ग्रीसकी जनता यूरोपकी आजकी जनतासे अधिक बुद्धिशाली थी, फिर भी जब उस जनताने नीतिका त्याग किया तब उसकी बुद्धि उसकी दुश्मन हो गई और आज

वह जाति देखनेमे भी नही आती। जातियाँ, प्रजाएं न पैसेसे टिकती है न सेनासे। वे एकमात्र नीतिकी नीवपर ही टिक सकती है। अत मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है कि इस विचारको सदा मनमे रखकर परमार्थ-रूपी परम नीतिका आचरण करे।

: ७ :

नीति में सार्वजनिक कल्याण

अकसर यह कहा जाता है कि संपूर्ण नीतिमे सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीशमे अगर न्याय-बुद्धि हो तो जिन लोगोको उसकी न्यायी अदालतमे जाना पडे वे सुखी होते है। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता, आदि गुण दूसरोसे साथ होनेपर ही प्रकट किये जा सकते है। वफादारीका बल भी हम एक दूसरेसे संबंध होनेपर ही दिखा सकते है। स्वदेशाभिमानके विषयमे तो कहना ही क्या! वास्तविक स्थितिको देखनेसे यह दिखाई देगा कि नीतिका एक भी विषय ऐसा नही है जिसका फल अकेले नीतिका पालन करनेवालेको ही मिलता है। अकसर यह

कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणोका सामनेवाले मनुष्य, विपक्षीके साथ कोई लगाव नही होता। पर हम झूठ बोलकर किसीको ठगे तो उससे विपक्षीकी हानि होगी, यह बात हमे कबूल करनी होगी, तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलनेसे उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाजको नापसद करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्यका असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार-लोकमे रहता है और विचारोकी दुनिया अभी पैदा होनेको है। उसकी वह परवा नही करता। ऐसे आदमीके लिए प्रचलित व्यवहार नीति विशेषका अनादर करनेके लिए यह खयाल भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नही है। ऐसा आदमी सदा दूसरोको अपने विचारके अनुसार आचरण करानेके यत्नमे लगा रहेगा। ऐसे ही पैगबरोने दुनियाके चक्रोकी गति फेरी है।

मनुष्य जबतक स्वार्थी है अर्थात् वह दूसरोके सुखकी परवा नही करता तबतक वह पशु-सदृश, बल्कि उससे भी गयाबीता है। मनुष्य पशुसे श्रेष्ठ है यह हम देख सकते है, पर यह तभी होता है जब

हम उसे अपने कुटुम्बका बचाव करते देखते है। वह उस वक्त मानवजातिमे और ऊंचा स्थान पाता है जब अपने देश या अपनी जातिको अपना कुटुब मानता है। जब सारी मानवजातिको वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपानपर चढता है, अर्थात् मनुष्य मानव-जातिकी सेवामे जितना पीछे रहता है उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्रीके लिए, अपने बेटेके लिए मुझे दर्द हो, पर उससे बाहरके आदमीके लिए मेरे दिलमे दर्द न हो तो स्पष्ट है कि मुझे मानव-जातिके दु खकी अनुभूति नही है, पर स्त्री, बच्चे या कौम जिसको मैने अपना मान रखा है उनके लिए भेदबुद्धि या स्वार्थबुद्धिसे कुछ दर्द होता है।

अत जबतक हमारे मनमे हरएक मानव-संतानके लिए दया न हो तबतक हमने नीतिधर्मका पालन नही किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे है कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे संबंध रखनेवाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है यानी हम सदा उसकी सेवा करते रहे यह हमारा फर्ज है। हमे यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसीके ऊपर नही है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करनेवाला आदमी

इस दुनियाके रेलेमे पडकर पिस जायगा। पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है, क्योकि यह जगत्-प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक-निष्ठासे सेवा करनेवाले आदमीको खुदाने हमेशा बचा लिया है।

इस नीतिके पैमानेसे मनुष्यमात्र समान है। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरहका काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मै ऊचा पद-अधिकार भोगता हू तो उस पदकी जिम्मेदारी उठाने-की मुझमे शक्ति है। इससे मुझे गर्वसे इतराना न चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग जो छोटी जिम्मेदारी उठाते है मुझसे हेठे है। पूर्ण साम्य तो हमारे मनकी स्थितिपर अवलबित होता है। जबतक हमारे मनकी यह स्थिति नही होती तबतक हम पिछडे हुए है।

इस नियमके अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थके लिए दूसरी जाति या राष्ट्रपर राज्य नही कर सकता। अमरीकाकी गोरी जनताका वहाके मूल निवासियोको दबाकर उनपर हुकूमत करना, यह नीति विरुद्ध है। ऊची शिक्षा सस्कारवाली जातिका नीची जातिसे सावका पडे तो उसका यह कर्त्तव्य होता

है कि उसको उठाकर अपने बराबर कर ले। इस नियमके अनुसार राजा प्रजापर हुकूमत करनेवाला नही, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगनेके लिए नही, बल्कि प्रजाको सुखी करनेके लिए होता है। प्रजातंत्र राज्यमे लोग स्वार्थी हो तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियमके अनुसार एक राज्यमे बसनेवाले या एक कौमके आदमियोमे जो बलवान हो उनका काम है दुर्बलोकी रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-व्यवस्थामे भूखों मरनेवाले नही हो सकते और न यही हो सकता है कि कुछ लोगोंके पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाय, इसलिए कि हम अपने पड़ोसीका दु ख देखते रहे और सुखी रहें यह हो नही सकता। परम नीतिका अनुसरण करनेवाले आदमीसे धन बटोरनेका काम होनेवाला नही। ऐसी नीति दुनियामे थोडी दिखाई देती है, यह सोचकर नीतिमानको घबराना न चाहिए; क्योंकि वह अपनी नीतिका मालिक है, उसके नतीजेका नही। नीतिका आचरण न करनेसे वह दोषी माना जायगा, पर उसका असर जनसमाज पर न हो तो कोई उसको दोष नही दे सकता।

: ८ :

समाप्ति

"मै जिम्मेदार हू," "यह मेरा फर्ज है," यह विचार मनुष्यको हिला देता है और अचभेमे डाल देता है। गैबी आवाजकी प्रतिध्वनि सदा हमारे कानमे पडा करती है—"मानव यह काम तेरा है। तुझे खुद हारना या जीतना है। तुझ जैसा तू ही है, क्योकि प्रकृतिने दो समान वस्तुए कही बनाई ही नही। जो फर्ज तुझको अदा करना है वह तूने अदा न किया तो दुनियाके सालाना चिट्ठेमे घाटा रहा ही करेगा।"

यह फर्ज जो मुझे अदा करना है क्या है? कोई कहेगा कि

> आदमको खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।
> लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।

और कहेगा कि इस पद्यके अनुसार मुझे यह मानकर कि मै खुदाका नूर हू, चुपचाप बैठे रहना चाहिए। दूसरा आदमी कहेगा कि मुझे अपने आसपासके लोगोके साथ हमदर्दी दिखाना, भाईचारा रखना चाहिए। तीसरा कहेगा कि मा-बापकी सेवा, बीवी बच्चोका भरण-पोषण और भाई-बहन-मित्रोके साथ

उचित व्यवहार करना चाहिए। पर इन सभी गुणोमे मैं खुद अपने प्रति भी उसी रीतिसे व्यवहार करूं, यह मेरे समस्त कर्त्तव्यका अग है। जबतक मै अपने आपको न पहचानू तबतक दूसरेको कैसे पहचान सकूगा ? और जबतक पहचानूगा नही तबतक उनका सम्मान कैसे कर सकूगा ? बहुतेरे यह मानने लगे है कि जिन बातोंका दूसरोसे सबध होता हो उनमे तो हमे कायदेसे व्यवहार करना चाहिए, पर जबतक हमारे कामोका दूसरोसे संबध न हो तबतक हम अपनी मर्जीके मुताबिक जैसे चाहे वैसे व्यवहार कर सकते है। जो आदमी ऐसा मानता हो वह बिना समझे बोलता है। दुनियामे रहकर कोई भी आदमी विना अपनी हानि किये खुदमुख्तार या स्वच्छन्द होकर व्यवहार नही कर सकता।

अब हमने देखा कि हमारा फर्ज खुद हमारी अपनी तरफ क्या है। अव्वल तो हमारे एकांतके आचरणकी खबर खुद हमारे सिवा दूसरोको होती नही, ऐसे आचरणका असर दूसरोंपर होता है इसलिए हम जिम्मेदार होते है, इतना ही सोचना काफी नही है। उसका असर दूसरोपर होता है, इसलिए भी हम उसके जवावदेह है। हर आदमीको चाहिए कि अपने

उत्साहको कावूमे रखे । एक महान् पुरुपका कहना है कि किसी भी आदमीका खानगी चाल-चलन मुझको वता दो, मै तुरत वता सकता हू कि वह आदमी कैसा होगा और है । ऐसे ही कारणोसे हमारे लिए उचित है कि अपनी इच्छाओको लगाम देकर रखे । यानी हमे शराव नही पीना चाहिए, पेटूकी तरह ठूस-ठूसकर नही खाना चाहिए, नही तो अतमे शक्तिहीन होकर हमे अपनी आवरू गवानी होगी । जो आदमी विषय-मार्गसे दूर रहकर अपने शरीर, मन, वुद्धि और प्राणकी रखवाली नही करता वह वाहरके कार्योमे सफलता नही पा सकता ।

यो विचार करते हुए मनुष्य अपनी अतर्वृत्तियोको स्वच्छ रखकर सोचता है कि इन वृत्तियोका क्या उपयोग करू । जीवनमे कोई निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए । हम जीवनके कर्त्तव्योकी खोज करके उनके पालनकी ओर मनका झुकाव न रखे तो हम बिना पतवारकी नावकी तरह भरे दरियामे डूवते-उतराते रहेगे । हमारा ऊचे-से-ऊचा कर्त्तव्य यह है कि हम मानवजातिकी सेवा करे और उसकी स्थिति सुधारनेके यत्नमे योग दे । इसमे सच्ची ईश्वर स्तुति, सच्ची वदगी आ जाती है । जो आदमी भगवानका काम करता है वह भगवानका

जन है, खुदाका बंदा है। खुदाका नाम लेनेवाले ढोंगी, धूर्त बहुतेरे दुनियामे विचरा करते है। तोता राम-राम कहना भी सीख लेता है इससे उसे कोई रामका भक्त, सेवक नही कहता। मनुष्यजातिको यथायोग्य स्थिति प्राप्त करानेका उद्देश्य हर आदमी अपने सामने रख और उसका अनुसरण कर सकता है। वकील ऐसे उद्देश्यसे वकालत कर सकता है, व्यापारी व्यापार कर सकता है। जो आदमी इस व्रतका पालन करता है वह कभी नीतिधर्मसे डिगता नही। उससे विचलित होकर मानवजातिको ऊपर उठानेका उद्देश्य पूरा किया ही नही जा सकता।

अब हम ब्योरेवार विचार करे। हमे सदा यह देखते रहना पडता है कि हमारा आचरण सुधार-की ओर जा रहा है या बिगाड़की ओर। बनिज-व्यापार करनेवाला हरएक सौदा करते हुए इस बातका विचार करेगा कि मै अपने आपको या दूसरेको ठग तो नही रहा हूं। वकील और वैद्य ऊपर बताई हुई नीतिका अनुसरण करते हुए मवक्किल और रोगीके हिताहितको अधिक सोचेगा। मां बच्चेका पालन करते हुए सदा यह डर मनमे रखकर चलेगी कि कही झूठे स्नेह या अपने दूसरे स्वार्थसे वह बिगड़ न जाय।

ऐसा विचार रखकर मजदूरी करनेवाला मजदूर भी अपने कर्त्तव्यका खयाल रखकर कार्य करेगा। इस सारे विवेचनका निचोड यह निकला कि मजदूर अगर नीति-नियमका पालन करते हुए अपने कर्त्तव्यका पालन करे तो वह अपने आचार-व्यवहारमे अपने आपको खुदमुख्तार माननेवाले धनी, व्यापारी, वैद्य या वकीलसे श्रेष्ठ माना जायगा। मजदूर खरा सिक्का है और व्यापारी, वकील आदि अधिक बुद्धि या अधिक पैसेवाले होते हुए भी खोटे सिक्के जैसे है। इस प्रकार हम फिर यह देख रहे है कि हर आदमी उपर्युक्त नियम निभानेमे समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थितिमे क्यो न हो। मनुष्यका मूल्य उसके चरित्र, उसके चाल-चलनपर आश्रित होता है, उसके पद-दरजेपर नही। उसके चरित्रकी परख उसके बाहरके कामोसे नही होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जानकर की जा सकती है। एक आदमी एक गरीबको अपनी नजरसे दूर करनेके लिए एक डालर देता है, दूसरा उसपर तरस खाकर, स्नेहसे आधा डालर देता है। इनमे आधा डालर देनेवाला नीतिमान है और पूरा डालर देनेवाला पापी है।

इस सारे विवेचनका सार यह निकला कि जो आदमी स्वय शुद्ध है, किसीसे द्वेष नही करता,

किसीसे नाजायज फायदा नही उठाता, सदा पवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वही आदमी धार्मिक है, वही सुखी है और वही पैसेवाला है। मानव-जातिकी सेवा उसीसे बन सकती है। खुद दियासलाईमे आग न हो तो दूसरी लकड़ीको कैसे सुलगायेगी ? जो आदमी खुद नीतिका पालन नही करता वह दूसरेको क्या सिखायेगा ? जो खुद डूब रहा हो वह दूसरेको कैसे पार उतारेगा ? नीतिका आचरण करनेवाला दुनियाकी सेवा किस तरह करनी होगी यह सवाल कभी उठाता ही नही, क्योकि उसके लिए यह सवाल पैदा ही नही होता। मैथ्यू आरनाल्ड कहता है, "एक वक्त था जब मै अपने मित्रके लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति चाहा करता था। अब मै वैसी कामना नही करता। इसलिए कि मेरे मित्रका सुख-दुख उनके होने न होनेपर अवलंबित नही। इससे अव मै सदा यही मनाता हूं कि उसकी नीति सर्वदा अचल रहे।" इमर्सन कहता है कि भले आदमीका दुख भी उसका सुख है और बुरेका तो पैसा, उसकी कीर्ति भी उसके और दुनियाके लिए दुखरूप है।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता.

गर पादशाह[1] होकर अमल[2] मुल्को हुआ तो क्या हुआ ?
दो दिनका नरसिंगा बजा, भो भो हुआ तो क्या हुआ ?
गुलशोर मुल्क व माल[3]का कोसो हुआ तो क्या ?
या हो फकीर आजादके रंगो हुआ तो क्या हुआ ?
गर यू हुआ तो क्या हुआ और वू हुआ तो क्या हुआ ? (१)

दो दिन तो यह चर्चा हुआ, हाथी मिला हाथी मिला,
बैठा अगर होदे उपर[4] या पालकीमें जा चढा,
आगे नक्कारा और निशा, पीछेको खोजोका परा[5],
देखा तो फिर इक आनमें, हाथी न घोडा न गधा।
गर यू हुआ तो क्या हुआ और वू हुआ तो क्या हुआ ? (२)

अब देख किसको शाद[6] हो और किस पै आँखें नम करे ?
यह दिल बिचारा एक है, किस किसका अब मातम करे ?
या दिलको रोवे बैठकर, या दर्द दु:खमें कम करे ?
याका यही तूफान है अब किसकी जूती ग्रम करे ?
गर यू हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (३)

गर तू 'नजीर' अब मर्द है तो जालमें भी शाद हो,
दस्तार[7]में भी हो खुशी, रूमालमें भी शाद हो,
आजादगी भी देख ले, जजालमें भी शाद हो,
इस हालमें भी शाद हो और उस हालमें भी शाद हो,
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वू हुआ तो क्या हुआ ? (४)

—नजीर

---

[1] बादशाह [2] हुकूमत [3] देश और धन [4] ऊपर
[5] बेगमोकी पालकियोकी रक्षाके लिए हिजडे सिपाहियोकी क़तार
[6] प्रसन्न, खुश [7] पगडी

स र्वो द य

[रस्किनके 'अन्टु दिस लास्ट'का सार]

प्रस्तावना

पश्चिमके देशोमे साधारणत यह माना जाता है कि बहुसख्यक लोगोका सुख—उनका अभ्युदय बढाना मनुष्यका कर्त्तव्य है। सुखका अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसेका सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करनेमें नीतिके नियम भग होते हो तो इसकी ज्यादा परवा नही की जाती। इसी तरह बहुसख्यक लोगोको सुख देनेका उद्देश्य रखनेके कारण पश्चिमके लोग थोडोको दु ख पहुचाकर भी बहुतोको सुख दिलानेमे कोई बुराई नही मानते। इसका फल हम पश्चिमके सभी देशोमे देख रहे है।

किंतु पश्चिमके कितने ही विचारवानोका कहना है कि बहुसख्यक मनुष्योके शारीरिक और आर्थिक सुखके लिए यत्न करना ही ईश्वरका नियम नही है और केवल इतनेहीके लिए यत्न करे और उसमे नैतिक नियमोका भग किया जाय यह ईश्वरीय नियमके विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगोमे विद्वान् अग्रेज स्वर्गीय जॉन रस्किन मुख्य थे। उन्होने कला, चित्रकारी आदि विषयोपर अनेक उत्तम पुस्तके लिखी है। नीतिके विषयोपर भी उन्होने बहुत कुछ लिखा है। उसमेंसे एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहा-जहा अग्रेजी बोली जाती है वहा-वहा इस पुस्तकका बहुत प्रचार है। इसमे ऊपर बताए विचारोका जोरोसे खडन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमोके पालनमे ही मनुष्य-जातिका कल्याण है।

आजकल भारतमे हम पश्चिमवालोकी बहुत नकल कर रहे है। कितनी ही बातोमे हम इसकी जरूरत भी समझते है, पर इसमे सदेह नही कि पश्चिमकी बहुत-सी रीतिया खराब है। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब है उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीकामे भारतीयोकी अवस्था बहुत ही करुणाजनक है। हम धनके लिए विदेश जाते है। उसकी धुनमे नीतिको, ईश्वरको भूल जाते है। स्वार्थमे सन जाते है। इसका नतीजा यह होता है कि हमे विदेशमे रहनेसे लाभके बदले उलटे बहुत हानि होती है अथवा विदेश-यात्राका पूरा-पूरा लाभ नही मिलता। सभी धर्मोमें नीतिका अश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धिसे देखा जाय तो भी नीतिका पालन आवश्यक है। जॉन रस्किनने सिद्ध किया है कि सुख इसीमें है। उन्होने पश्चिम-वालोकी आखे खोल दी है और आज यूरोप और अमरीकाके भी कितने ही लोग उनकी शिक्षाके अनुसार चलते है। भारतीय जनता भी उनके विचारोसे लाभ उठा सके, इस उद्देश्यसे हमने उक्त पुस्तकका इस ढगसे साराश देनेका विचार किया है कि जिससे अग्रेजी न जाननेवाले भी उसे समझ ले।

सुकरातने, मनुष्यको क्या करना उचित है इसे सक्षेपमे समझाया है। कह सकते है कि उसने जो कुछ कहा है, रस्किनने उसीका विस्तार कर दिया है। रस्किनके विचार सुकरातके ही विचारोका विस्तृत रूप है। सुकरातके विचारोके अनुसार चलनेकी इच्छा रखनेवालोको भिन्न-भिन्न व्यवसायोमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, रस्किनने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तकका सार दे रहे है, उल्था नही कर रहे है। उल्था कर देनेसे सभव है कि बाइबिल आदि ग्रथोके कितने ही दृष्टात पाठक न समझ पाए। हमने पुस्तकके नामका भी उल्था नही किया है, क्योकि उसका मतलब भी वही पा सकते है जिन्होने अग्रेजीमे बाइबिल पढी है; परतु उसके लिखे जानेका उद्देश्य सबका कल्याण सबका (केवल अधिकाशका नही) उदय, उत्कर्ष होनेके कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

—मो० क० गांधी

सर्वोदय

: १ :

सचाईकी जड़

मनुष्य कितनी ही भूले करता है, पर मनुष्योकी पारस्परिक भावना--स्नेह, सहानुभूतिके प्रभावका विचार किये बिना उन्हे एक प्रकारकी मशीन मानकर उनके व्यवहारके गढनेसे बढकर कोई दूसरी भूल नही दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलोमे ऊपर-ऊपरसे देखनेसे कुछ सचाईका आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमोके विषयमे भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनानेवाले कहते है कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकारकी भावना मनुष्यकी साधारण प्रकृतिकी गतिमे बाधा पहुचानेवाली मानी जानी चाहिए, परन्तु लोभ और आगे बढनेकी इच्छा सदा बनी रहनेवाली वृत्तिया है। इसलिए आकस्मिक वस्तुसे दूर

रखकर मनुष्यको पैसा बटोरनेकी मशीन मानते हुए केवल इसी बातपर विचार करना चाहिए कि किस प्रकारके श्रम और किस तरहके लेन-देनके रोजगारसे आदमी अधिक-से-अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरहके विचारोके आधारपर व्यवहारकी नीति निश्चित कर लेनेके बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिसे काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाए।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिका जोर लेन-देनके नियम-जैसा ही होता तो ऊपरकी दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुप्यकी भावना उसके अदरका वल है और लेन-देनका कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनो एक प्रकार, एक वर्गके नही है। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओरसे स्थायी शक्ति लग रही हो और दूसरी ओरसे आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्तिका अदाजा लगायगे, बादको आकस्मिकका। दोनोंका अंदाजा मिल जानेपर हम उस वस्तुकी गतिका निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनो शक्तियां एक प्रकारकी है; परंतु मानव-व्यवहारमे लेन-देनके

स्थायी नियमकी शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनो भिन्न-भिन्न प्रकारकी है । भावना-का असर दूसरे ही प्रकारका दूसरी ही तरहसे पडता है, जिससे मनुष्यका रूप ही बदल जाता है । इसलिए वस्तुविशेषकी गतिपर पडनेवाली भिन्न-भिन्न शक्तियोके असरका हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड-बाकीके नियमसे लगाते है उस तरह भावनाके प्रभावका हिसाब नही लगा सकते । मनुष्यकी भावनाके प्रभाव-की जाच-पडताल करनेमे लेन-देन, खरीद-बिक्री या माग और उत्पत्तिके नियमका ज्ञान कुछ काम नहीं आता ।

लौकिक शास्त्रके नियम गलत है, यह कहनेका कोई कारण नही । यदि व्यायाम-शिक्षक यह मान ले कि मनुष्यके शरीरमे केवल मास ही है, अस्थि-पजर नही है और फिर नियम बनाए तो उसके नियम ठीक भले ही हो, पर वे अस्थि-पजरवाले मनुष्यके लिए लागू नही हो सकते । उसी तरह लौकिक शास्त्रके नियम ठीक होनेपर भी भावनासे बधे हुए मनुष्यके लिए लागू नही हो सकते । यदि कोई कसरतबाज कहे कि मनुष्यका मास अलग कर उसकी गेदे बनाई जा सकती है, उसे खीचकर उसकी डोरी बना सकते

है और फिर यह भी कहे कि उस मासमे पुन अस्थि-पजर घुसा देनेमे क्या कठिनाई है, तो हम निस्सदेह उसे पागल कहेगे, क्योकि अस्थिपजरसे मासको अलग-कर व्यायामके नियम नही बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्यकी भावनाकी उपेक्षा करके लौकिक शास्त्रके नियम बनाये जाय तो वे उसके लिए बेकार है। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहारके नियमोके रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षकके ही ढगपर चलते है। उनके हिसाबसे मनुष्य, उसका शरीर, केवल कल है और इसी धारणाके अनुसार वे नियम बनाते है। वे जानते है कि उसमे जीव है, फिर भी वे उसका विचार नही करते। इस प्रकारके नियम मनुष्यपर, जिसमे जीव--आत्मा--रूहकी प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते है ?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नही है। जब-जब हडताले होती है तव-तब हम प्रत्यक्ष देखते है कि वे बेकार है। उस वक्त मालिक कुछ और सोचते है और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देनका एक भी नियम लागू नही कर सकते। लोग यह दिखानेके लिए खूब माथा-पच्ची करते है कि नौकर और मालिक दोनोका स्वार्थ एक ही ओर होता है, परतु इस समयमे

वे कुछ नही समझते। सच तो यह है कि एक-दूसरेका सासारिक स्वार्थ---पैसेका---एक न होनेपर भी एक-दूसरेका विरोधी होना या बने रहना जरूरी नही है। एक घरमे रोटीके लाले पडे है। घरमे माता और उसके बच्चे है। दोनोको भूख लगी है। खानेमे दोनोके---माता और बच्चेके---स्वार्थ परस्परविरोधी है। माता खाती है तो बच्चे भूखो मरते है और बच्चे खाते है तो मा भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चोमे कोई विरोध नही है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटीके टुकडेको खुद नही खा डालती। ठीक यही बात मनुष्यके परस्परके सबधके विषयमे भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोडी देरके लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशुमे कोई अतर नही है। हमे पशुओकी तरह अपने-अपने स्वार्थके लिए लडना ही चाहिए। तब भी यह बात नियमरूपमे नही कही जा सकती कि मालिक और नौकरके बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्थाके अनुसार इस भावमे परिवर्त्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलनेमे तो दोनोका स्वार्थ है, परतु नफेके बटवारेकी दृष्टिसे देखनेपर यह हो सकता है

कि जहा एकका लाभ हो वहा दूसरेकी हानि हो। नौकरको इतनी कम तनखाह देनेमे कि वह सुस्त और निरुत्साह रहे, मालिकका स्वार्थ नही सधता। इसी तरह कारखाना भलीभाति न चल सकता हो तो भी ऊची तनखाह मागना नौकरके स्वार्थका साधक नही है। जब मालिकके पास अपनी मशीनकी मरम्मत करानेको भी पैसे न हो तब नौकरका ऊची तनखाह मागना स्पष्टत अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते है कि लेन-देनके नियमके आधारपर किसी शास्त्रकी रचना नही की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धनकी घटती-बढतीके नियमपर मनुष्यका व्यवहार नही चलना चाहिए। उसका आधार न्यायका नियम है, इसलिए मनुष्यको समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेनेका विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकारसे आचरण करनेपर अतमे क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नही बतला सकता, परतु अमुक काम न्यायसगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्राय सदा जान सकते है। हम यह भी कह सकते है कि नीति-पथपर चलनेका फल अच्छा ही होना

चाहिए। हा, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नही कह सकते।

नीति-न्यायके नियममे पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिका समावेश हो जाता है और इसी भावनापर मालिक-नौकरका सबध अवलबित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरोसे अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हे जरा भी दम नही लेने देता, कम तनखाह देता है, दडबे-जैसी कोठरियोमे रखता है। सार यह कि वह उन्हे इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीरमे रख सके। कुछ लोग कह सकते है कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नही करता। नौकरने निश्चित तनखाहमे अपना सारा समय मालिकको दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कडा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकोको देखकर निश्चित करता है। नौकरको अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेनेकी उसे स्वतत्रता है। इसीको लेन-देनका नियम बनानेवाले अर्थशास्त्र कहते है और उनका कहना है कि इस तरह कम-से-कम दाममे अधिक-से-अधिक काम लेनेमे मालिकको लाभ होता है और अतमे इससे नौकरको भी लाभ ही होता है।

विचार करनेपर हम देखेगे कि यह बात ठीक नही है। नौकर अगर मशीन या कल होता और उसे चलानेके लिए किसी विशेष प्रकारकी ही शक्तिकी आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था; परतु यहां तो नौकरको सचालित करनेवाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्माका बल तो अर्थशास्त्रियोके सारे नियमोपर हड़ताल फेर देता है---उन्हे गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीनमे धनरूपी कोयला झोककर अधिक-से-अधिक काम नही लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकती है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाए। नौकर और मालिकके बीच धनका नही, प्रीतिका बधन होना चाहिए।

प्राय देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबावके कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकरका काम जितना होना चाहिए उतना नही होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिए जाय तो हम देखेगे कि सहानुभूतिवाले मालिकका नौकर सहानुभूतिरहित

मालिकके नौकरकी अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते है कि यह नियम ठीक नही, क्योंकि स्नेह और कृपाका वदला अनेक वार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ जाता है, पर यह दलील ठीक नही है। जो नौकर स्नेहके वदले लापर-वाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिकसे द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिकके साथ जो नौकर वददयानती करता है वह अन्यायी मालिकका नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमीके साथ परोपकारकी दृष्टि रखनेसे परिणाम अच्छा ही होता है। यहा हम सहानुभूतिको एक प्रकारकी शक्ति मानकर ही उसपर विचार कर रहे है। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए---यह विलकुल जुदी वात है और यहा हम उसपर विचार नही कर रहे है। यहा तो हमे केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्रके साधारण नियमोको, जिन्हे हम अभी देख चुके है, स्नेही सहानुभूतिरूपी शक्ति वरवाद कर देती है। यही नही, यह एक भिन्न प्रकारकी शक्ति होनेके कारण अर्थशास्त्रके अन्यान्य नियमोके साथ

उसका मेल नही बैठता। वह तो उन नियमोंको उठाकर अलग रख देनेपर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटेका तौलका हिसाब रक्खे और बदला मिलनेकी आशासे ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पडे। स्नेह स्नेहके लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना मागे अपने आप ही मिल जाता है। कहते है जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायकका उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्रके नियमोका प्रयोग कर अपनी सेनाके सिपाहियोंसे काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टात मिलते है कि जिस सेनाका सरदार अपने सिपाहियोसे घनिष्टता रखता है, उनके प्रति स्नेहका व्यवहार करता है, उनकी भलाईसे प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुखमे शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है—साराश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणोमे हम देखते है कि जहा सिपाही अपने सेनानायकसे मुहब्बत नही रखते थे

वहा युद्धमे कही-कही ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकोके बीच स्नेह-सहानुभूतिका बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरोके दलोमे भी पाई जाती है। डाकुओका दल भी अपने सरदारके प्रति पूर्ण स्नेह रखता है, लेकिन मिल आदि कारखानो-के मालिको और मजदूरोमे हमे इस तरहकी घनिष्ठता नही दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरहके कारखानेमे मजदूरोकी तनखाहका आधार लेन-देनके, माग और प्राप्तिके नियमोपर रहता है, इसलिए मालिक और मजदूरोके बीच प्रीतिके बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूतिकी जगह उनके सबधमे विरोध, प्रतिद्वद्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्थामे हमे दो प्रश्नोपर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मागका और प्राप्तिका विचार किए बिना नौकरोकी तनखाह किस हदतक स्थिर की जा सकती है ?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारोमे मालिक-नौकरोका या सेनापति और सिपाहियोका स्थायी सबध होता है, उसी तरह कारखानोमे बराबर कैसा ही समय आनेपर भी नौकरीकी नियत सख्या,

कमी-बेशी किए विना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्नपर विचार करे। आश्चर्यकी बात है कि अर्थशास्त्री इसका उपाय नही निकालते कि कारखानेके मजदूरोकी तनखाहकी एक दर निश्चित हो जाए। फिर भी हम देखते है कि इग्लैडके प्रधानमत्री-का पद बोली बुलवाकर बेचा नही जाता। उस पदपर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (बिशप)के पदपर नही बैठाते। डाक्टरो और वकीलोके साथ भी साधारणत इस तरहका संबध नही रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते है कि उक्त उदाहरणमे हम बधी उजरत ही देते है। इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूरकी उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तवमे होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सको और वकीलो-की फीस एक ही होनेसे अच्छे वकील-डाक्टरोके ही पास जाते है, उसी तरह सब मजदूरोकी मजदूरी एक ही होनेपर हम लोग अच्छे राज और बढईसे ही काम लेना पसद करेगे। अच्छे कारीगरका इनाम

यही है कि वह कामके लिए पसद किया जाए । इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतनकी दर निश्चित हो जानी चाहिए । जहा अनाडी आदमी कम तनखाह लेकर मालिकको धोखा दे सकता है वहा अतमे वुरा ही परिणाम होता है ।

अव दूसरे प्रश्नपर विचार करे। वह यह है कि व्यापारकी चाहे जैसी अवस्था हो, कारखानेमे जितने आदमियोको आरभमे रक्खा हो उतनेको सदा रखना ही चाहिए। जव कर्मचारियोको अनिश्चित रूपसे काम मिलता है तव उन्हे ऊची तनखाह मागनी ही पडती है, कितु यदि उन्हे किसी तरह यह विश्वास हो जाए कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे वहुत थोडी तनखाहमे काम करेगे । इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियोको स्थायी रूपसे नौकर रखता है उसे अतमे लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते है उन्हे भी लाभ होता है। ऐसे कारखानोमे ज्यादा नफा नही हो सकता। वे कोई वडी जोखिम नही ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नही कर सकते । सिपाही सेनापति-की खातिर मरनेको तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरीके पेशेसे ज्यादा इज्जतकी चीज

मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाहीका काम कत्ल करनेका नही; बल्कि दूसरोकी रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जानेका है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्यको सौप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरीके सबंधमे भी मानते हैं, इसलिए उन्हे आदरकी दृष्टिसे देखते है। वकीलको अपने प्राण निकलनेतक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्यको अनेक सकट सहकर भी अपने रोगीका उपचार करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशकको चाहिए कि उसपर कुछ भी क्यो न बीते, पर अपने समुदाय-वालोको ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशोमें ऐसा हो सकता है तो व्यापारमें क्यो नही हो सकता ? आखिर व्यापारके साथ अनीति-का नित्यका सबध मान लेनेका क्या कारण है ? विचार करनेसे दिखाई देता है कि व्यापारी सदाके लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारीका काम भी जनताके लिए जरूरी है, पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टिसे वनाये जाते है कि व्यापारी झपाटेके साथ धन वटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी

जहातक हो सके अधिक मागे और ले। लोगोने खुद ही व्यापारमे ऐसी आदत डाली और अब उसे उनकी बेईमानीके कारण नीची निगाहसे देखते है। इस प्रथाको बदलनेकी जरूरत है। यह कोई नियम नही हो गया है कि व्यापारीको अपना स्वार्थ ही साधना ——धन ही बटोरना चाहिए। इस तरहके व्यापारको हम व्यापार न कहकर चोरी कहेगे। जिस तरह सिपाही राज्यके सुखके लिए जान देता है उसी तरह व्यापारीको जनताके सुखके लिए धन गवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्योमे——

सिपाहीका पेशा जनताकी रक्षा करना है,
धर्मोपदेशकका, उसको शिक्षा देना है,
चिकित्सकका, उसे स्वस्थ रखना है,
वकीलका उसमे न्यायका प्रचार करना है,
और व्यापारीका उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगोका कर्त्तव्य समय आनेपर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्——

पैर पीछे हटानेके बदले सिपाहीको अपनी जगहपर खडे-खडे मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेगके समय भाग जानेके बदले चाहे खुद प्लेगका

शिकार हो जाए तो भी चिकित्सकको वहां मौजूद रहकर रोगियोका इलाज करते रहना चाहिए।

सत्यकी शिक्षा देनेमे लोग मार डाले तो भी मरते दमतक धर्मोपदेशकको झूठके बदले सत्यही-की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्यायके लिए मरना पडे तब भी वकीलको इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालोके लिए मरनेका उपयुक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगोके लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समयपर मरनेको तैयार नही है, वह जीना किसे कहते है यह नही जानता। हम देख चुके है कि व्यापारीका काम जनताके लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशकका काम तनखाह लेना नही, वल्कि उपदेश देना है, उसी तरह व्यापारीका नफा कमाना नही, वल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देनेवालेको रोटी और व्यापारीको नफा तो मिल ही जाते है, पर दोनोमेसे एकका भी काम तनखाह या नफेपर नजर रखना नही है। उन्हे तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक

हो तो व्यापारीको ऊचा दरजा मिलना चाहिए, क्योकि उसका काम बढिया माल तैयार कराना और जिसमे जनताका लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुचाना है। इस काममे जो सैकडो या हजारो आदमी उसके मातहत हो उनकी रक्षा और बीमार होनेपर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करनेके लिए धीरज, वहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरोकी तरह व्यापारी-के लिए भी जान दे देनेका अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उसपर कैसा ही सकट आ पडे, चाहे वह भिखारी हो जाए, पर न तो खराव माल वेचेगा और न लोगोको धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करनेवालोके साथ अत्यत स्नेहका व्यवहार करेगा। बडे कारखानो या कारवारोमे जो नवयुवक नौकरी करते है उनमेसे कितनोको अक्सर घरवार छोडकर दूर जाना होता है। वहा तो मालिकको ही उनके मा-बाप बनना होता है। मालिक इस विषयमे लापरवाह होता है तो वेचारे नवयुवक विना मा-बापके हो जाते है। इसलिए पद-पदपर व्यापारी या मालिकको अपने-

आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि "मै जिस तरह अपने लड़कोको रखता हू वैसा ही बरताव नौकरोके साथ भी करता हू या नही ?"

जहाजके कप्तानके नीचे जो खलासी होते है उनमे कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियोको लडकोंके समान मानना कप्तानका कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारीके यहां अनेक नौकरोमे यदि उसका लडका भी हो तो काम-काजके बारेमे वह जैसा व्यवहार अपने लडकेके साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरोके साथ भी उसे करना होगा। इसीको सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाजके खतरेमे पड़ जानेपर कप्तानका कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाजसे उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटोंमे व्यापारीका कर्त्तव्य है कि अपने आदमियोंकी रक्षा अपनेसे पहले करे। इस प्रकारके विचार संभव है कुछ लोगोको विचित्र मालूम हो, परतु ऐसा मालूम होना ही इस जमानेकी विशेष नवीनता है, क्योकि विचार करके यह सभी देख सकते है कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलाई गई है। जिस समाजको ऊपर उठना है उसमे दूसरे प्रकारकी नीति कदापि नही चल सकती।

अंग्रेज जाति आजतक कायम है तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्रके नियमोंका अनुसरण किया है, बल्कि यह है कि थोडेसे लोगोंने उन नियमोंका भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमोंका पालन किया है। इसीसे यह नीति अबतक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमोंका भंग करनेसे कैसी हानियां होती है और किस तरह समाजको पीछे हटना पडता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाईके मूलके संबंधमें पहले ही कह चुके हैं। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिसे कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरहके लाभका हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्रकी विवेचना करते हैं वह केवल इसी बातका विचार करता है कि मालदार बननेका क्या उपाय है? यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभवसे इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाये गए हैं। जो इस शास्त्रके अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोपके सभी धनिकोंने इसी शास्त्रके अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है।

इसके विरुद्ध दलीले उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नही है। व्यापारी रुपये कमाते है, पर वे यह नही जान सकते कि उन्होने सच-मुच कमाया या नही और उससे राष्ट्रका कुछ भला हुआ है या नही। 'धनवान' शब्दका अर्थ भी वे अक्सर नही समझते। वे इस बातको नही जान पाते कि जहा धनवान होगे वहा गरीब भी होगे। कितनी ही बार वे भूलसे यह मान लेते है कि किसी निर्दिष्ट नियमके अनुसार चलनेसे सभी आदमी धनी हो सकते है। सच पूछिए तो यह मामला कुएके रहट-जैसा है। एकके खाली होनेपर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास उतना नही होता। अगर आपके सामने या पासवाले आदमीको आपके रुपयेकी गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपयेकी शक्ति इस बातपर अवलंबित है कि आपके पडोसीको रुपयेकी कितनी तगी है। जहा गरीबी है वही अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमीको धनवान होना हो तो उसे

अपने पडोसियोको गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्रका अर्थ है, ठीक समयपर ठीक स्थानमे आवश्यक और सुखदायक वस्तुए उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समयपर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढई लकडीका काम ठीक तौरसे करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। ये लोग सारे राष्ट्रकी सपत्ति बढाने-वाले है। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नही कहा जा सकता। उसमे तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरोको उसकी तगीमे रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाले यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरहके कितने रुपये मिलेगे, अपनेको उतना ही पैसेवाला मानते है। वे यह नही सोचते कि उनके रुपयोका मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सके उतना ही है। साथ ही वे लोग धातुका, रुपयोका सग्रह करते है। वे यह भी हिसाब लगाते है कि उससे कितने मजदूर मिल सकेगे। एक आदमीके पास सोना-चादी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमीको नौकरोकी जरूरत

होगी, परतु यदि उसके पडोसियोसे किसीको सोना-चादी या अन्नकी जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अत उस मालदारको खुद अपने लिए रोटी पकानी पडेगी, खुद अपने कपडे सीने पडेगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशामे उसके लिए उसके सोनेका मूल्य उसके खेतके पीले ककडोसे अधिक न होगा। उसका अन्न सड जायगा, क्योकि वह अपने पडोसीसे ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरोकी तरह कडी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्थामे अधिक आदमी सोना-चादी एकत्र करना पसद न करेगे। गहराईसे सोचनेपर हमे मालूम होगा कि धन प्राप्त करनेका अर्थ दूसरे आदमियोपर अधिकार प्राप्त करना--अपने आरामके लिए नौकर, व्यापार या कारीगरकी मेहनतपर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियोकी गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाबसे मिल सकेगा। यदि एक बढईसे काम लेनेकी इच्छा रखनेवाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हो तो उसे जहा अधिक मजदूरी मिलेगी वहा जायगा। निचोड यह निकला

कि धनवान होनेका अर्थ जितने अधिक आदमियोको हो सके उतनोको अपनेसे ज्यादा गरीबीमे रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते है कि इस तरह लोगोको तगीमे रखनेसे राष्ट्रका लाभ होता है। सब बराबर हो जाय, यह तो हो नही सकता, परतु अनुचित रूपसे लोगोमे गरीबी पैदा करनेसे जनता दुखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कगाली और मालदारी स्वाभाविक रूपसे हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

: २ :

दौलतकी नसें

इस प्रकार किसी विशेष राष्ट्रमे रुपये-पैसेका चक्कर शरीरमे रक्त-सचारके समान है। तेजीके साथ रक्तका सचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायाम-का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वरका। शरीर-पर एक प्रकारकी लाली स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकारकी रक्तपित्त रोगका चिह्न है। फिर एक स्थानमे खूनका जमा हो जाना जिस तरह शरीरको

हानि पहुंचाता है उसी तरह एक स्थानमे धनका सचित होना भी राष्ट्रकी हानिका कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि जहाजके टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जानेसे दो खलासी एक निर्जन किनारेपर आ पड़े है। वहां उन्हे खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते है। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहे तो अच्छा मकान बना सकते है, खेत तैयारकर खेती कर सकते है और भविष्यके लिए कुछ वचा भी सकते है। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते है और यदि दोनों अच्छी तरह काम करे तो उसमे दोनोका हिस्सा बराबर माना जावेगा। इस तरह इनपर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हे अपने परिश्रमका फल बांटनेका अधिकार है। अव मान लीजिए कि कुछ दिनो वाद इनमेसे एक आदमीको असतोष हुआ, इसलिए उन्होने खेत वांट लिए और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे। फिर मान लीजिए कि कभी ऐन मौकेपर एक आदमी वीमार पड गया। ऐसी दशामे वह स्वभावत दूसरेको मददके लिए वुलाएगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मै तुम्हारा इतना काम करनेको तैयार हूं; पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पडे

तो तुम्हे भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हे यह लिख देना होगा कि तुम्हारे खेतमे मै जितने घटे काम करूगा उतने ही घटे, जरूरत पडनेपर, तुम मेरे खेतमे काम कर दोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमारकी बीमारी लबी चली और हर बार उसे उस आदमीको इसी तरहका इकरारनामा लिखकर देना पडा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनोकी स्थिति क्या होगी? हम देखेगे कि दोनो ही पहलेसे गरीब हो गए है, क्योकि बीमार आदमी जबतक खाटपर पडा रहा तबतक उसे अपने कामका लाभ नही मिला। यदि हम मान ले कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमारके खेतमे लगाया उतना अपने खेतमे लगानेसे उसे वचित रहना पडा। फल यह हुआ कि जितनी सपत्ति दोनोकी मिलकर होनी चाहिए थी उसमे कमी हो गई।

इतना ही नही, दोनोका सबध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमीका कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देनेके बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिए कि उस चगे आदमीने बीमार आदमीसे लिखाए हुए

इकरारनामेका उपयोग करनेका निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूपसे विश्राम ले सकता है--आलसी बन सकता है। वह चाहे तो बीमारीसे उठे हुए आदमीसे दूसरे इकरारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नही कह सकेगा कि इसमे कोई बेकायदा बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहा आए तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐश-आराम करता है, आलस्यमे दिन बिताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्टसे निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरणसे पाठक देख सकेगे कि दूसरेसे काम लेनेके हकका फल यह होता है कि वास्तविक सपत्ति घट जाती है।

अव दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियोने मिलकर एक राज्यकी स्थापना की और तीनो अलग-अलग रहने लगे। हरेकने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सवके काम आ सके। मान लीजिए कि इनमेसे एक आदमी सवका समय वचानेके लिए एकका माल दूसरेके पास पहुचानेका जिम्मा ले लेता है और इसके वदलेमे अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौरसे माल लाए व ले जाए तो सवको लाभ

होगा। पर मान लीजिए कि यह आदमी माल ले जानेमे चोरी करता है और वादको सख्त जरूरतके समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महगे भाव उनके हाथ वेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनो किसानोको भिखारी बना देता है और अंतमे अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपरके दृष्टातमे स्पष्ट अन्याय है, पर आजके व्यापारियोका यही हाल है। हम यह भी देख सकेगे कि इस चोरीकी कार्रवाईके वाद तीनो आदमियोकी सपत्ति इकट्ठी करनेपर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमीके ईमानदार बने रहनेपर होती। दोनो किसानोका काम कम हुआ। आवश्यक चीजे न मिलनेसे अपने परिश्रमका पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलालके हाथ चोरीका जो माल लगा उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नही हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणितका-सा स्पष्ट हिसाव लगाकर राष्ट्रविशेषकी सपत्तिकी जाच कर सकते है। उस सपत्तिकी प्राप्तिके साधनोपर उसे धनवान मानने या न माननेका आधार है। किसी राष्ट्रके पास इतने पैसे है, इसलिए वह इतना धनवान है यह नही कहा जा सकता। किसी आदमीके

पास धनका होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलताका लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेबका सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमे इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है। दूसरा ऐसा होता है कि एक आदमीके हाथमे आते हुए दस गुने धनका नाश कर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीतिका विचार किए विना धन बटोरनेके नियम बनाना केवल मनुष्यकी घमड दिखानेवाली वात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महगे-से-महगा बेचनेके नियमके समान लज्जाजनक वात मनुष्यके लिए दूसरी नही है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगनेपर लकड़ियां जल जानेसे जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकंपके कारण धराशायी हो जानेवाले मकानोकी ईंटे सस्ती हो सकती है, किंतु इससे कोई यह कहनेका साहस नही कर सकता कि आग और भूकपकी दुर्घटनाए जनताके लाभके लिए हुई थी। इसी तरह 'महंगा-से-महंगा वेचना' भी ठीक है, पर महंगी हुई कैसे ? आज आपको रोटीके

अच्छे दाम मिले । पर क्या आपने दाम किसी मरणासन्न मनुष्यकी अतिम कौडिया लेकर खडे किए है ? या आपने वे रोटिया किसी ऐसे महाजनको दी है जो कल आपका सर्वस्व हडप लेगा ? या किसी ऐसे सिपाहीको दी जो आपके बैकपर धावा बोलनेवाला है ? सभव है कि इनमेसे एक भी प्रश्नका उत्तर आप अभी न दे सके, क्योकि आपको इनका ज्ञान नही है, पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्यपर, नीतिपूर्वक बेची है या नही यह आप बतला सकते है । ठीक न्याय होनेकी ही चिता रखना आवश्यक भी है । आपके कामसे किसीको दु ख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है ।

हम देख चुके कि धनका मूल्य उसके द्वारा लोगोका परिश्रम प्राप्त करनेपर निर्भर है । यदि मेहनत मुफ्तमे मिल सके तो पैसेकी जरूरत नही रहती । पैसे बिना भी लोगोकी मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते है और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके है कि धन-बलसे नीति-बल अधिक काम करता है । हम यह भी देख चुके है कि जहा धन काम नही देता वहा सद्गुण काम देता है । इग्लैडमे अनेक स्थानोमे लोग धनसे भुलावेमे नही डाले जा सकते ।

यदि हम मान ले कि आदमियोसे काम लेनेकी शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते है कि वे आदमी जिस परिमाणमे चतुर और नीतिमान होगे उसी परिमाणमे दौलत बढ़ेगी। इस तरह विचार करनेपर हमे मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चादी नही, बल्कि स्वय मनुष्य ही है। धनकी खोज धरतीके भीतर नही, मनुष्यके हृदयमे ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्रका सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगोको तन, मन और मानसे स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैड गोलकुडेके हीरोसे गुलामोको सजाकर अपने वैभवका प्रदर्शन करनेके बदले, यूनानके एक सुप्रसिद्ध मनुष्यके कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषोको दिखाकर कहे कि—

"यह मेरा धन है।"

: ३ :

अदल इंसाफ

ईसवी सन्‌की कुछ शताब्दियो पहले एक यहूदी व्यापारी हो गया है। उसका नाम सोलोमन था।

उसने धन और यश दोनो भरपूर कमाए थे। उसकी कहावतोका आज भी यूरोपमे प्रचार है। वेनिसके लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होने उसकी मूर्ति स्थापित की। उसकी कहावते आजकल याद तो रखी जाती है, परतु ऐसे आदमी वहुत कम है जो उनके अनुसार आचरण करते हो। वह कहता है, "जो लोग झूठ वोलकर पैसा कमाते है वे घमडी है और यही उनकी मौतकी निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हरामकी दौलतसे कोई लाभ नही होता। सत्य मौतसे वचाता है।" इन दोनो कहावतोमे सोलोमनने वतलाया है कि अन्यायसे पैदा किए हुए धनका परिणाम मृत्यु है। इस जमानेमे इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणत हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नही सकते। जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने मालपर लोगोको भुलावेमे डालनेवाले लेबिल लगाना, इत्यादि।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढानेके लिए गरीबोको दुख देता है वह अतमे दर-दर भीख माँगेगा।" इसके बाद कहता है, "गरीबोको न सताओ, क्योकि वे गरीब है। व्यापारमे दुखियोपर जुल्म न करो, क्योकि जो गरीबको सताएगा खुदा

उसे सताएगा।" लेकिन आजकल तो व्यापारमे मरे हुए आदमीको ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई संकटमे पड जाता है तो हम उसके संकटसे लाभ उठानेको तैयार हो जाते है। डकैत तो मालदार-के यहां डाका डालते है, परंतु व्यापारमे तो गरीबोंको ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनो समान है। खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है। खुदा उन्हे ज्ञान देता है।"अमीरका गरीबके बिना और गरीवका अमीरके बिना काम नही चलता। एकसे दूसरेका काम सदा ही पड़ता रहता है, इसलिए कोई किसीको ऊंचा या नीचा नही कह सकता। परतु अव ये दोनो अपनी समानताको भूल जाते है और जब उन्हे इस बातका होश नही रहता कि खुदा उन्हे ज्ञान देनेवाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदीके समान है। नदी सदा समुद्रकी ओर अर्थात् नीचेकी ओर वहती है। इसी तरह धनको भी जहा आवश्यकता हो वही जाना चाहिए; परंतु जैसे नदीकी गति वदल सकती है वैसे ही धनकी गतिमे भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर वहने लगती हैं और उनके आस-पास वहुत-सा

पानी जमा हो जानेसे जहरीली हवा पैदा होती है। इन्ही नदियोमे बाध बाधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जानेसे वही पानी जमीनको उपजाऊ और आस-पासकी वायुको उत्तम बनाता है। इसी तरह धनका मनमाना व्यवहार होनेसे बुराई बढती है, गरीबी बढती है। साराश यह कि वह धन विष-तुल्य हो जाता है, पर यदि उसी धनकी गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बाधी हुई नदीकी तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धनकी गतिके नियत्रणके नियमको एकदम भूल जाते है। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करनेका शास्त्र है, परतु धन तो अनेक प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोपमे धनिकको विष देकर लोग उसके धनसे स्वय धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगोके लिए जो खाद्य पदार्थ तैयार किए जाते है उनमे व्यापारी मिलावट कर देते है। जैसे दूधमे सुहागा, आटेमे आलू, कहवेमे 'चीकरी', मक्खनमे चरबी इत्यादि। यह भी विष देकर धनवान होनेके समान ही है। क्या इसे हम धनवान होनेकी कला या विज्ञान कह सकते है ?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूटसे ही धनी होनेकी बात कहते है। उनकी ओरसे यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-संगत और न्याय-युक्त उपायोसे धनवान होनेका है। पर इस जमानेमे यह भी होता है कि अनेक बाते जायज होते हुए भी न्यायबुद्धिसे विपरीत होती है। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्यायसे ही पैसा कमानेकी बात ठीक हो तो न्याय-अन्यायका विवेक उत्पन्न करना मनुष्यका पहला काम होना चाहिए। केवल लेन-देनके व्यावसायिक नियमसे काम लेना या व्यापार करना ही काफी नही है। यह तो मछलिया, भेडिये और चूहे भी करते है। बड़ी मछली छोटी मछलीको खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जतुओको खा जाता है और भेड़िया आदमीतकको खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हे दूसरा ज्ञान नही है, परन्तु ईश्वरने मनुष्यको समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरोको भक्षण कर, उन्हे ठगकर, उन्हे भिखारी बना-कर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्थामे अब हमे देखना है कि मजदूरोको मजदूरी देनेका न्याय क्या है?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूरका उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनतका कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमीको एक मजदूरकी आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करनेको तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी मांगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियोंको मजदूरकी आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंहमांगी उजरत मिल जाएगी और यह प्राय जितनी होनी चाहिए उससे अधिक ही होगी। इन दोनोंके बीचकी दर उचित मजदूरी कही जायगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधिके बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमीको व्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमीको उतना ही नहीं, बल्कि व्याजके तौरपर, कुछ अधिक परिश्रम

देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घटा पाच मिनट या इससे अधिक काम कर देनेका वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूरके विषयमे समझनी चाहिए।

अव अगर मेरे पास दो मजदूर आए और उनमेसे जो कम ले उसे मै कामपर लगाऊ तो फल यह होगा कि जिससे मै काम लूँगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मै जिस मजदूरको रखू उसे पूरी मजदूरी दू तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा, फिर भी जिसे मै काममे लगाऊगा उसे भूखो न मरना होगा और यह समझा जाएगा कि मैने अपने रुपयेका उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगोके भूखो मरने-की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरोको कम मजदूरी दी जाती है। मै मजदूरी दू तो मेरे पास व्यर्थका धन इकट्ठा न होगा, मे भोग-विलासमे रुपया खर्च न करूगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढेगी। जिसे मे उचित दाम दूगा वह दूसरोको उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्यायका सोता सूखनेके बदले ज्यो-ज्यो आगे बढेगा त्यो-त्यो उसका जोर बढता जायगा और जिस राष्ट्रमे इस प्रकारकी न्याय-बुद्धि

होगी वह सुखी होगा और उचित रूपसे फूले-फलेगा।

इस विचारके अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते है। उनका कथन है कि ज्यो-ज्यो प्रतिस्पर्द्धा बढती है त्यो-त्यो राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तवमे यह विचार भ्रात है। प्रतिस्पर्द्धाका उद्देश्य है मजदूरीकी दर घटना।

इसमे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रति-स्पर्द्धा (चढा-ऊपरी) से अतमे राष्ट्रका नाश होनेकी सभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमीको उसकी योग्यताके अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमे भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धाके फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होगे, क्योकि फिर काम पानेके लिए अपनी दर घटानेकी जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढानी होगी। इसीलिए लोग सरकारी नौकरी पानेके लिए उत्सुक रहते है। वहा दर्जेके अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलतामे रहती है। नौकरीके लिए दरखास्त देनेवाला कभी तनखाह लेनेकी बात नही कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमे दूसरोकी अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज

और जल-सेनाकी नौकरियोंमे भी इसी नियमका पालन किया जाता है और इसीलिए प्राय ऐसे विभागोमे गडबड और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियोमे ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतिया वढ गई है। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराव और सडा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मै खाऊ, मजदूर चाहता है कि मै ठग लू और ग्राहक चाहता है कि मै वीचसे कमा लू। इस प्रकार व्यवहार विगड जाता है, लोगोंमे खटपट मची रहती है, गरीबीका जोर बढता है, हडताले बढ जाती है, महाजन ठग बन जाते है, ग्राहक नीतिका पालन नही करते। एक अन्यायसे दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते है। अतमे महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दुख भोगते और नष्ट होते है। जिस राष्ट्रमे ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती है वह अतमे दुख पाता है और उसका धन ही विप-सा हो जाता है।

इसलिए ज्ञानियोंने कह रखा है—

"जहा धन ही परमेश्वर है वहां सच्चे परमेश्वर-को कोई नही पूजता।"

अग्रेज मुंहसे तो कहते है कि धन और ईश्वरमें

परस्पर विरोध है, गरीबहीके घरमे ईश्वर वास करता है, पर व्यवहारमे वे धनको सर्वोच्च पद देते है। अपने धनी आदमियोकी गिनती करके अपनेको सुखी मानते है और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करनेके नियम बनाते है जिन्हे सीखकर लोग धनवान हो जाय। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धिका है। प्रत्येक प्रकारकी स्थितिमे न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय——जो राष्ट्र इस शास्त्र-को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बाते वृथा प्रयास है, 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि' के समान है। लोगोको जैसे भी हो सके पैसा पैदा करनेकी शिक्षा देना उन्हे उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

: ४ :

सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणोमे हम देख चुके कि अर्थ-शास्त्रियोके जो साधारण नियम माने जाते है वे ठीक नही है। उन नियमोके अनुसार आचरण करनेपर व्यक्ति और समाज दोनो दुखी होते है, गरीब अधिक

गरीब बनता है और पैसेवालेके पास अधिक पैसा जमा होता है, फिर भी दोमेसे एक भी सुखी होता या रहता नही ।

अर्थशास्त्री मनुष्योके आचरणपर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेनेको ही अधिक उन्नति मानते है और जनताके सुखका आधार केवल धनको बताते है । इसीलिए वे सिखाते है कि कला-कौशल आदिकी वृद्धिसे जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है । इस तरहके विचारोके प्रचारके कारण इग्लैड और दूसरे देशोमे कारखाने बढ गए है । बहुतसे आदमी शहरोमे जमा होते है और खेती-बाडी छोड़ देते है । बाहरकी सुदर स्वच्छ वायुको छोडकर कारखानोकी गदी हवामे रात-दिन सास लेनेमे सुख मानते है । इसके फलस्वरूप जनता कमजोर होती जा रही है, लोभ बढता जारहा है और अनीति फैलती जा रही है । और जब हम अनीतिको दूर करनेकी बात उठाते है तब बुद्धिमान कहलानेवाले लोग कहते है कि अनीति दूर नही हो सकती, अज्ञानियोको एकदम ज्ञान नही हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए । यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते है कि गरीबोकी

अनीतिका कारण धनवान है। उनके भोग-विलास-का सामान जुटानेके लिए गरीब रात-दिन मजदूरी करते है, उन्हे कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करनेके लिए एक पल भी नही मिलता। धनिकोको देखकर वे भी धनी होना चाहते है। धनी न हो पानेपर खिन्न होते है, झुझलाते है। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्तेसे धन न मिलता देख दगा-फरेबसे पैसा कमानेका वृथा प्रयास करते है। इस तरह पैसा और मेहनत दोनो बर्बाद हो जाते है, या दगा-फरेब फैलानेमे उनका उपयोग होता है।

वास्तवमे सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानव-जातिका भरण-पोषण हो। भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्यको यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीतिके मार्गपर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टिसे विचार करनेसे बडे-बडे आयोजन बेकार माने जाएगे। सभव है कि कल-कारखाने खोलकर धनवान होनेका मार्ग ग्रहण करना पापकर्म मालूम हो। पैसा पैदा करनेवाले बहुतेरे मिलते है, पर उसका यथाविधि उपयोग करनेवाले कम पाए जाते हैं। जिस धनको पैदा करनेमे जनता

तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोडपति है वे बड़े-बड़े और अनीतिमय सग्रामोके कारण करोडपति हुए है। वर्तमान युगके अधिकांश युद्धोका मूल कारण धनका लोभ ही दिखाई देता है।

लोग यह कहते हुए दिखाई देते है कि दूसरोको सुधारना, ज्ञान देना असभव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहनेवाले स्वय नीतिका पालन नही करते, क्योकि जो आदमी नीतिका पालन करता है और लोभमे नही पडता वह पहले तो अपने मनको स्थिर रखता है, वह स्वय सन्मार्गसे विचलित नही होता और अपने कार्यसे ही दूसरोपर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वय जबतक नैतिक नियमोका पालन न करे तबतक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है? हम खुद तो मनमाना आचरण करे और पड़ोसीकी अनीतिके कारण उसके दोष निकाले तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है?

इस प्रकार विचार करनेसे हम देख सकते है कि धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दुख दोनो हो सकते है। यदि वह अच्छे मनुष्यके हाथमे पडता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न

पैदा होता है, किसान निर्दोप मजदूरी करके सतोष पाते है और राष्ट्र सुखी होता है। खराव मनुष्यके हाथमे धन पडनेसे उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद वनते है और लोगोका सर्वनाश होता है। गोला-बारूद वनानेवाला राष्ट्र और जिसपर इनका प्रयोग होता है वे दोनो हानि उठाते और दु ख पाते है।

इस तरह हम देख सकते है कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्रमे नीति है वह धनसपन्न है। यह जमाना भोग-विलासका नही है। हरेक आदमीको जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरणमे हम देख चुके है कि जहा एक आदमी आलसी रहता है वहा दूसरेको दूनी मेहनत करनी पडती है। इग्लैडमे जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जानेपर कोई उपयोगी काम नही करते, अत उनके लिए दूसरे आदमियोको परिश्रम करना पडता है। यह परिश्रम उपयोगी न होनेके कारण काम करनेवालेका इसमे लाभ नही होता। ऐसा होनेसे राष्ट्रकी पूजी घट जाती है। इसलिए ऊपरसे यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगोको काम मिल रहा

है, परतु भीतरसे जाच करनेपर मालूम होता है कि अनेक आदमियोको बेकार बैठना पड रहा है। पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असतोषकी जड जमती है और अतमे मालदार-गरीब, मालिक-मजदूर दोनो अपनी मर्यादा त्याग देते है। जिस तरह बिल्ली और चूहेमे सदा अनबन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूरमे दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशुकी अवस्थामें पहुच जाता है।

: ५ :

सारांश

महान् रस्किनके लेखोका खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकोको नीरस मालूम होगे, तथापि जिन्होने इन्हे एक बार पढ लिया हो उनसे हम फिर पढनेकी सिफारिश करते है। 'इडि-यन ओपीनियन'' के सब पाठकोसे यह आशा रखना

'इस नामका गुजराती-अङ्गरेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजीने दक्षिण अफ्रीकामें रहते समय डरबनमे निकाला था। अब भी यह निकल रहा है।

कि वे इनपर विचारकर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बडी अभिलाषा कही जाए। पर यदि थोडे पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सारको ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किनके अतिम परिच्छेदके अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसीमे फलका समावेश हो जाता है। इसलिए हमे तो सदा ही सतोष मानना उचित है।

रस्किनने जो बाते अपने भाइयो—अग्रेजोके लिए लिखी है वे अग्रेजोके लिए यदि एक हिस्सा लागू होती है तो भारतवासियोके लिए हजार हिस्से लागू होती है। हिदुस्तानमे नए विचार फैल रहे है। आजकलके पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवकोमे जोश आया है, यह तो ठीक है, पर जोशका अच्छा उपयोग होनेसे अच्छा, और बुरा होनेपर बुरा परिणाम होता है। एक ओरसे यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओरसे यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजीके साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हो, नेटालमे स्वराज है, पर हम कहते है कि नेटालमे जो

हो रहा है हम भी वही करना चाहते हो तो ऐसा स्व-राज नरक-राज है। नेटालवाले काफिरोको कुचलते है, भारतीयोके प्राण हरण करते है। स्वार्थमे अधे होकर स्वार्थराज भोग रहे है। यदि काफिर और भारतीय नेटालसे चले जाए तो वे आपसहीमे कट मरे।

तब क्या हम ट्रासवाल-जैसा स्वराज प्राप्त करेगे ? जनरल स्मट्स उसके नायकोमेसे एक है। वह अपने लिखित या जबानी दिए हुए वचनोका पालन नही करते। कहते कुछ है और करते कुछ है। अग्रेज उनसे ऊब उठे है। रुपया बचानेके बहाने उन्होने अग्रेज सैनिकोकी लगी रोजी छीनकर उनके स्थानमे डच लोगोको रखा है। हम नही मानते कि इससे अतमे डच भी सुखी होगे। जो लोग स्वार्थपर दृष्टि रखते है वे पराई जनताको लूटनेके बाद अपनी जनता-को लूटनेके लिए सहज ही तैयार हो जाएगे।

ससारके समस्त भागोपर दृष्टि डालनेसे हम देख सकते है कि जो राज स्वराजके नामसे पुकारा जाता है, वह जनताकी उन्नति और सुखके लिए पर्याप्त नही है। एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानीसे इस बातको देख सकते है। लुटेरोके दलमे स्वराज

हो जानेसे क्या फल होगा, यह सभी जान सकते है। उनपर किसी ऐसे मनुष्यका अधिकार हो जो स्वयं लुटेरा न हो, तभी वे अतमे सुखी हो सकते है। अमरीका, फ्रास, इग्लैड सभी वडे-वडे राज्य है, पर यह माननेके लिए कोई आधार नही कि वे सचमुच सुखी है।

स्वराजका वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर काबू रख सकना। यह वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीतिका पालन करता है, दूसरोको धोखा नही देता, माता-पिता, स्त्री-वच्चे, नौकर-चाकर, पडोसी सबके प्रति अपने कर्त्तव्यका पालन करता है। ऐसा मनुष्य चाहे जिस देशमे हो, फिर भी स्वराज भोग रहा है। जिस राष्ट्रमे ऐसे मनुष्योकी सख्या अधिक हो उसे स्वराज मिला हुआ ही समझना चाहिए।

एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रपर शासन करना साधारणत वुरा कहा जा सकता है। अग्रेजोका हमपर राज करना एक उलटी वात है, परतु यदि अग्रेज भारतसे कूच कर जाय तो मानना चाहिए कि भारतीयोने कोई वहुत वडा काम कर लिया। वे हमपर राज्य करते है, इसका कारण खुद हम ही है। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये

तीन बाते दूर हो जाए, तो हमे एक उगली भी न उठानी होगी और अग्रेज चुपचाप भारतसे चले जाएगे। यही नही, हम भी सच्चे स्वराजको भोग सकते है।

बमबाजीसे बहुतसे लोग खुश होते दिखाई देते है। यह केवल अज्ञान और नासमझीकी निशानी है। यदि सब अग्रेज मार डाले जा सके तो उन्हे मारनेवाले ही भारतके मालिक बनेगे। अर्थात् भारत दास ही रहेगा। अग्रेजोका नाश करनेवाले बम अग्रेजोके चले जानेपर भारतीयोपर बरसेगे। फ्रांसके प्रजातत्रके अध्यक्ष--राष्ट्रपति--को मारनेवाला फ्रेंच ही था। अमरीकाके राष्ट्रपति क्लीवलैडको मारनेवाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमे उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रोका अधानुकरण कदापि न करे।

जिस तरह पाप कर्मसे--अग्रेजोको मारकर सच्चा स्वराज नही प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारतमे कारखाने खोलनेसे भी स्वराज नही मिलनेका। रस्किनने इस बातको पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चादी एकत्र हो जानेसे कुछ राज्य नही मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिममे सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए है। बल्कि

सच पूछिए तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनोमे पश्चिमकी जनता वर्णसकर-सी होती दिखाई देने लगी है । हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोपकी-सी अवस्था भारतकी कदापि न हो । यूरोपके राष्ट्र एक-दूसरेपर घात लगाए बैठे है । केवल अपनी तैयारीमे लगे होनेके ही कारण सब शात है। किसी समय जब जोरोकी आग लगेगी तब यूरोपमे नरक ही दिखाई देगा। यूरोपका प्रत्येक राज्य काले आदमियोको अपना भक्ष्य मान बैठा है। जहा केवल धनका ही लोभ है वहा कुछ और हो ही कैसे सकता है ? उन्हे यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उसपर टूट पडते है जिस तरह चील और कौवे मासपर टूटते है। इस प्रकार सब उनके कारखानोके ही कारण होता है, यह माननेके लिए हमारे पास कारण है।

अतमे भारतको स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियोकी पुकार है और यह उचित ही है, परतु स्वराज हमे नीति-मार्गसे प्राप्त करना है । वह नामका नही, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायोसे नही मिल सकता। उद्योगकी आवश्यकता है, पर उद्योग सच्चे रास्तेसे होना चाहिए।

भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी, इसलिए कि भारतवासी स्वर्णरूपसे थे। भूमि तो वही है, पर आदमी वदल गए है, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुन. सुवर्ण वनानेके लिए हमे सद्-गुणोद्वारा स्वर्णरूप वनना है। हमे स्वर्ण वनाने-वाला पारसमणि दो अक्षरोमे अंतर्निहित है और वह है 'सत्य'। इसलिए यदि प्रत्येक भारतवासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारतको घर वैठे स्वराज मिल जायगा।

मंगल प्रभात

[व्रत-विचार]

मंगलप्रभात

: १ :

सत्य

प्रात:कालकी प्रार्थनाके बाद

२२–७–३०

हमारी सस्थाका मूल ही 'सत्यका आग्रह' है, इसलिए पहले सत्यको ही लेता हू ।

'सत्य' शब्द सत्से बना है । सत्का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व । सत्यके बिना दूसरी किसी चीजकी हस्ती ही नही है । परमेश्वरका सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है । इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है यह कहनेकी अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है । हमारा काम राजकर्त्ताके बिना, सरदारके बिना नही चलता । इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा । लेकिन विचारने-पर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है ।

सत्यके साथ ज्ञान---शुद्ध ज्ञान अवश्यभावी है ।

जहां सत्य नही है वहां शुद्ध ज्ञानकी संभावना नही है। इससे ईश्वर नामके साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्दकी योजना हुई है और जहा सत्य ज्ञान है वहां आनद ही होगा, शोक होगा ही नही। सत्यके शाश्वत होनेके कारण आनद भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वरको हम सच्चिदानदके नामसे भी पहचानते है।

इस सत्यकी आराधनाके लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमे हमारे हाथ लग जा सकते है। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणत सत्यका अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने विशाल अर्थमे सत्य शब्दका प्रयोग किया है। विचारमे, वाणीमे और आचारमे सत्यका होना ही सत्य है। इस सत्यको संपूर्णत समझनेवालेके लिए जगतमे और कुछ जानना बाकी नही रहता, क्योकि हम ऊपर विचार कर आए है कि सारा ज्ञान उसमे समाया हुआ है। उसमे जो न समाय वह सत्य नही है, ज्ञान नही है। तब फिर

उससे सच्चा आनद तो हो ही कहासे सकता है ? यदि हम इस कसौटीका उपयोग करना सीख जाय तो हमे यह जाननेमे देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य ? क्या देखने योग्य है, क्या नही, क्या पढने योग्य है, क्या नही ?

पर यह पारसमणिरूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय ? इसका जवाव भगवानने दिया है---अभ्यास और वैराग्यसे । सत्यकी ही घालमेल अभ्यास है । उसके सिवा अन्य सब वस्तुओमे आत्यतिक उदासीनता वैराग्य है । फिर भी हम पायगे कि एकके लिए जो सत्य है दूसरेके लिए वह असत्य हो सकता है । इसमे घव-रानेकी वात नही है । जहा शुद्ध प्रयत्न है वहा भिन्न जान पडनेवाले सब सत्य एक ही पेडके असख्य भिन्न दिखाई देने ाले पत्तोके समान है । परमेश्वर ही क्या हर आदमीको भिन्न दिखाई नही देता ? फिर भी हम जानते है कि वह एक ही है । पर सत्य नाम ही परमेश्वरका है, अत जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह वरते तो उसमे दोप नही । इतना ही नही, वल्कि वही कर्त्तव्य है । फिर उसमे भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी, क्योकि सत्यकी खोजके साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट-सहनकी वात

होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अतः उसमे स्वार्थकी तो गंधतक भी नही होती। ऐसी निस्वार्थ खोजमे लगा हुआ आजतक कोई अंतपर्यंत गलत रास्तेपर नही गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्यकी आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेलीपर लेकर चलनेका सौदा' है, अथवा वह 'हरिका मार्ग' है जिसमे कायरताकी गुजाइश नही है, जिसमे हार नामकी कोई चीज है ही नही। वह तो 'मरकर जीनेका मत्र' है।

पर अब हम लगभग अहिसाके किनारे आ पहुचे है। उसपर अगले सप्ताह विचार करूगा।

इस प्रसगके साथ हरिश्चद्र, प्रह्लाद, रामचद्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई सतो आदिके दृष्टात विचारने योग्य है। चाहिए कि अगले सप्ताहतक सब बालक-बडे, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते——सारे काम करते हुए यह रटन लगाए रहे और ऐसा करते-करते निर्दोप निद्रा लिया करे तो कितना अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचितामणि सिद्ध हुआ है। हम सभीके लिए वैसा ही सिद्ध हो।

: २ :

अहिंसा

मगलप्रभात
२९-७-३०

सत्यका, अहिसाका मार्ग जितना सीधा है उतना ही तग भी, खाडेकी धारपर चलनेके समान है। नट जिस डोरपर सावधानीसे नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिसाकी डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पलकी साधनासे ही उसके दर्शन होते है।

लेकिन सत्यके सपूर्ण दर्शन तो इस देहसे असभव है। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देहद्वारा शाश्वत धर्मका साक्षात्कार सभव नही होता। अत अतमे श्रद्धाके उपयोगकी आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसीसे अहिसा जिज्ञासुके पल्ले पडी। जिज्ञासुके सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्गमे आनेवाले सकटोको सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पडे वह करता जाय और आगे बढे ? उसने देखा कि नाश करते चलनेपर वह आगे नही बढता, दर-का-

दरपर ही रह जाता है। सकट सहकर तो आगे वढता है। पहले ही नाशमे उसने देखा कि जिस सत्यकी उसे तलाश है वह वाहर नही है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमे सताता है, उससे बचनेको हमने उसे दड दिया। उस वक्तके लिए तो वह भाग गया जरूर, लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेध लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अत हमने अंधेरी गलीमे ठोकर खाई। चोरका उपद्रव वढता गया, क्योकि उसने तो चोरीको कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते है कि चोरका उपद्रव सह ले, इससे चोरको समझ आएगी। इस सहनसे हम देखते है कि चोर कोई हमसे भिन्न नही है। हमारे लिए तो सब सगे है, मित्र है, उन्हे सजा देनेकी जरूरत नही है, लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नही है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अत हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-विरादर है तो उसमे वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमे उसे अपनानेका उपाय खोजनेतकका कष्ट सहनेको तैयार होना चाहिए।

यह अहिंसाका मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठाने-की ही बात आती है, अटूट धैर्य--शिक्षाकी बात आती है। यदि यह हो जाय तो अंतमें चोर साहूकार बन जाता है और हमें सत्यके अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगतको मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वरकी, सत्यकी महिमा अधिक समझते हैं, संकट सहते हुए भी शांति-सुख बढ़ता है, हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है, हम शाश्वत-अशाश्वतका भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देहके अंदर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टिके सामने है। किसीको न मारना इतना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जगतके लिए जो आवश्यक वस्तु है उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वह जगतके लिए आवश्यक है। जहां खड़े हैं वहां सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरोंतले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है।

फिर क्या आत्महत्या कर ले ? तो भी निस्तार नही है। विचारमे देहके साथ ससर्ग छोड दे तो अतमें देह हमे छोड देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्य-नारायण है। यह दर्शन अधीरतासे नही होते। यह समझकर कि देह हमारी नही है, वह हमे मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमे आगे बढना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था, पर हो गई कठिन। फिर भी जिसने अहिसाका थोडा भी विचार किया होगा उसे समझनेमे कठिनाई न पडनी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिसा बिना सत्यकी खोज असभव है। अहिसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत है जैसे सिक्केके दोनो रुख, या चिकनी चकतीके दो पहलू। उसमे किसे उलटा कहे, किसे सीधा ? फिर भी अहिसाको साधन और सत्यको साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथकी बात है। इससे अहिसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधनकी चिता करते रहनेपर साध्यके दर्शन किसी दिन कर ही लेगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्गमे चाहे जो सकट आयं, बाह्य दृष्टिसे देखनेपर हमारी चाहे जितनी हार होती

दिखाई दे तो भी हमें विश्वास न छोडकर एक ही मन जपना चाहिए—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कारका एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोडेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वरके नामपर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें उसके पालनका बल दे।

: ३ :

ब्रह्मचर्य

मगलप्रभात
५-८-३०

हमारे व्रतोमे तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है। वास्तवमे देखनेपर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्यके व्रतमेसे ही उत्पन्न होते है और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुष्यने सत्यको वरा है उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तुकी आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकारकी आराधनाकी तो बात ही कहा उठ सकती है? जिसकी कुल प्रवृत्तिया सत्यके दर्शनके लिए है, वह सतानोत्पत्तिके काममे या घर-गिरस्ती चलानेके झगडेमे पड ही

कैसे सकता है ? भोगविलासद्वारा किसीको सत्य प्राप्त होनेकी आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नही है ।

अथवा अहिसाके पालनको ले तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्यके विना असाध्य है । अहिसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम । जहा पुरुपने एक स्त्रीको या स्त्रीने एक पुरुपको अपना प्रेम सौप दिया वहा उसके पास दूसरेके लिए क्या वच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सव वादको ।' पतिव्रता स्त्री पुरुषके लिए और पत्नीव्रती पुरुप स्त्रीके लिए सर्वस्व होमनेको तैयार होगा । अत यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेमका पालन नही हो सकता । वह सारी सृष्टिको अपना कुटुव नही वना सकता, क्योकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुब मौजूद है या तैयार हो रहा है । उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेममे विक्षेप होता है । इसके उदाहरण हम सारे ससारमे देख रहे है । इस-लिए अहिसा-व्रतका पालन करनेवालेसे विवाह नही वन सकता, विवाहके बाहरके विकारकी तो बात ही क्या ?

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति

होगी ? उन्हे सत्यकी प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नही कर सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है---विवाहितका अविवाहितकी भाति हो जाना । इस दिशामे इससे बढकर मैने दूसरी बात नही देखी । इस स्थितिका मजा जिसने चखा है वह गवाही दे सकता है । आज तो इस प्रयोगकी सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है । विवाहित स्त्री-पुरुप एक दूसरेको भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगडोसे वे मुक्त हो जाते है । ससारभरकी सारी स्त्रिया बहने है, माताए है, लडकिया है--यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊचे ले जानेवाला, बधनमेसे मुक्ति देनेवाला हो जाता है । इसमे पति-पत्नी कुछ खोते नही, वरन् अपनी पूजीमे वृद्धि करते है, कुटुब बढाते है, विकाररूपी मैल निकलनेसे प्रेम भी बढता है । विकारोके जानेसे एक दूसरेकी सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक दूसरेके बीच कलहके अवसर कम होते है । जहा स्वार्थी, एकागी प्रेम है, वहा कलहके लिए ज्यादा गुजाइश रहती है ।

इस प्रधान विचारके समझ लेने और उसके हृदयमे बैठ जानेके बाद ब्रह्मचर्यसे होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते है । जान-

बूझकर भोगविलासके लिए वीर्य खोना और शरीरको निचोडना कितनी वडी मूर्खता है ? वीर्यका उपयोग दोनोंकी शारीरिक और मानसिक शक्तिको वढानेके लिए है। उसका विपय-भोगमे उपयोग करना यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोगके कारण वह बहुतेरे रोगोकी जड बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्यका पालन मन, वचन और कर्म तीनोसे होना चाहिए। व्रतमात्रके विषयमे यही वात समझनी चाहिए। हम गीतामे पढते है कि जो शरीर-को तो वशमे रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकारका पोषण किया करता है, वह मूढ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मनको विकारी रहने देकर शरीरको दबानेकी कोशिश करनेमे हानि ही है। जहा मन होता है वहां शरीर अतमे घसिटाए बिना नही रहता। यहां एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकारवश होने देना एक बात है, मनका अपने आप, अनिच्छासे, बलात्कारसे विकारको प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकारमे यदि हम सहायक न बने तो अंतमे जीत ही है। हमारा प्रतिपलका यह अनुभव है कि शरीर काबूमे रहता है, पर मन नही रहता। इसलिए

शरीरको तो तुरत ही वशमे करके मनको वशमे करनेका हम सतत प्रयत्न करते रहे तो हमने अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया। हमारे, मनके अधीन होते ही, शरीर और मनमे विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचारका आरभ हो जाता है। पर जहातक मनोविकारको दवाते ही रहते है वहातक दोनो साथ जानेवाले है, ऐसा कह सकते है।

इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असभव माना गया है। इसके कारणकी खोज करनेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यको सकुचित अर्थमे लिया गया है। जननेंद्रिय-विकारके निरोधभरको ही ब्रह्मचर्यका पालन मान लिया गया है। मेरे खयालमे यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सदेह, जो अन्य इद्रियोको जहा-तहा भटकने देकर एक ही इद्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कानसे विकारी वाते सुनना, आखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तुका स्वाद लेना, हाथसे विकारोको उभारनेवाली चीजको छूना और फिर भी जननेद्रियको रोकनेका इरादा रखना तो आगमे हाथ डालकर जलनेसे बचनेके प्रयत्नके समान

है। इसलिए जननेंद्रियको रोकनेका निश्चय करने-वालेके लिए इंद्रियमात्रका, उनके विकारोसे रोकनेका निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्यकी सकुचित व्याख्यासे नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सव इंद्रियोका एक साथ वशमे करनेका अभ्यास डाले तो जननेंद्रियको वशमे रखनेका प्रयत्न तुरत सफल हो सकता है। इसमे मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसीलिए व्रतोंमे उसके सयमको हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रखे। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी—सत्यकी—शोधमे चर्या, अर्थात् तत्-सबधी आचार। इस मूल अर्थमेसे सर्वेंद्रिय-सयम-रूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रिय-सयमरूपी अधूरे अर्थको तो हमे भूल जाना चाहिए।

: ४ :

अस्वाद

मगलप्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्यके साथ यह व्रत बहुत निकट सबध रखनेवाला है। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमे समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेद्रिय-सयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतोमे पृथक् स्थान नही दिया जाता। स्वादको बडे-बडे मुनिवर भी नही जीत सके, इसलिए इस व्रतको पृथक् स्थान न मिला। पर यह केवल मेरा अनुमानमात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रतको पृथक् स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतत्ररूपसे विचार कर लेना उचित है।

अस्वादका अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवाके खानेमे हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमे ही सेवन करते है, वही बात अन्नके विषयमे समझनी चाहिए। अन्नसे मतलब समस्त खाद्य पदार्थोसे है।

इसलिए दूध-फल भी उसमे आ जाते है। जैसे दवा नियत परिमाणसे कम खानेपर लाभ नही होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाणमे खानेसे हानि होती है, वही बात अन्नके बारेमे है। इसलिए किसी भी वस्तुको स्वाद लेनेके लिए चखना, व्रतका भग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तुका अधिक परिमाणमे लेना तो अनायास व्रतका भंग हो गया। इससे यह समझमे आ सकता है कि किसी चीजका स्वाद बढ़ाने या बदलनेके लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटानेको नमक मिलाना, यह व्रतभग है। पर अमुक परिमाणमे नमककी जरूरत है यह हम जानते हो और इस वजहसे उसमे नमक मिलावे तो इसमे व्रतभग नही है। शरीर-पोषणके लिए आवश्यकता न होनेपर भी मनको ठगनेके लिए आवश्यकताका आरोप करके किसी चीजका बढा लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हम पायगे कि कितनी ही चीजे हम ऐसी लेते है जो हमारी शरीर-रक्षाके लिए आवश्यक न होनेके कारण त्याज्य-श्रेणीमे है और इस प्रकार अगणित वस्तुओका अनायास त्याग हो जानेसे उस मनुष्यके विकारमात्र शात हो जायगे। "एक हाडी तेरह व्यजन मांगती है," "पेट

तरह-तरहके नाच नचाता है, स्वाग भरवाता है," इन सब वचनोमे बडा अर्थ समाया हुआ है । इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे आहारका चुनाव प्राय अशक्य हो गया है । बचपनसे ही मा-बाप झूठा लाड-चाव करके अनेक प्रकारके स्वाद करा-कराकर शरीरको विगाड देते है और जीभको कुतिया वना देते है, जिससे वडे होनेपर लोग शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी देखनेमे आते है । इसका कटुफल हम पद-पदपर अनुभव करते है, फजूलखर्चियोमे पडते है, वैद्य-डाक्टरोकी खुशामदे करते है और शरीर तथा इद्रियोको वशमे रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपगकी भाति जीते है । एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि ससारमे मैने एक भी निरोगी मनुष्य नही देखा । जरा भी स्वादके फेरमे पडनेसे शरीरके लिए उपवासकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है ।

इस विचारधारासे किसीको घवरानेकी जरूरत नही है । अस्वाद-व्रतकी भयकरता देखकर उसे त्याग देनेकी भी जरूरत नही । कोई व्रत लेनेका अर्थ यह नही होता कि हम उसी समयसे उसका पूर्ण रूपसे पालन करने लग गए । व्रत लेनेका अर्थ होता है

सपूर्ण रूपसे उसके पालनका सच्चा दृढ प्रयत्न मन-वचन-कर्मसे, जीवनपर्यंत करना। किसी व्रतके कठिन होनेके कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मनको धोखा नही देना चाहिए। अपनी सुविधाके लिए आदर्शको गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श-को स्वतत्र रूपसे जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करनेका जी-जानसे प्रयत्न करना परम अर्थ है—पुरुषार्थ है। (पुरुष शब्दका अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुरमे अर्थात् शरीरमे जो रहे वह पुरुष। यह अर्थ लेनेसे पुरुषार्थ शब्दका उपयोग स्त्री-पुरुष दोनोके लिए हो सकता है।) जो तीनो कालमे सपूर्ण रूपसे महा-व्रतोका पालन करनेमे समर्थ है उसे इस जगतमे कुछ भी करनेको नही है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्यका आग्रह रखने-वाले, उसकी खोज करनेवाले प्राणी है। इसलिए गीताकी भाषामे, धीरे-धीरे, किंतु अतद्रित रहकर हमे प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसादके योग्य हो जायगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायगे।

अस्वादव्रतका महत्व समझ लेनेपर हमे उसके

पालनके लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसो घटे खानेके बारेमे ही सोचते रहनेकी जरूरत नही। सिर्फ सावधानीकी, जागृतिकी पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करनेमे थोडे ही समयमे हमे मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमे पडते है और कब शरीर-पोषणके लिए खाते है। वह मालूम हो जानेपर हमे दृढतापूर्वक स्वादोको घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टिसे विचार करनेपर अस्वाद-वृत्तिसे बननेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहा हमे रोज इसका विचार नही करना पडता कि क्या पकायगे, क्या खायगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो उसे ईश्वरका अनुग्रह मानकर, मनमे भी उसकी टीका किए बिना, सतोषपूर्वक शरीरके लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जाय। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रतका पालन करता है। सयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हलका कर देते है, हमारे व्रतके रक्षक बनते है। स्वाद करनेकी दृष्टिसे उन्हे कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाजके शरीरका पोषण करनेके लिए ही रसोई बनाए। वास्तवमे तो आदर्श स्थितिमे अग्निकी आवश्यकता कम-से-कम या बिलकुल ही नही है। सूर्यरूपी महा-

अग्नि जिन चीजोको पकाती है उन्हीमेसे हमारे खाद्यका चुनाव होना चाहिए। इन विचारोसे सिद्ध होता है कि मनुष्यको केवल फलाहारी होना चाहिए। परतु यहा इतनी गहराईमे उतरनेकी जरूरत नही है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमे कौन-कौन-सी कठिनाइयां है, या नही है, और उसका ब्रह्मचर्य-पालनके साथ कितना अधिक निकट सबध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रतके पालनका शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

: ५ :

अस्तेय

मगलप्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेयव्रतपर आते है। गभीरतासे विचारनेपर सभी व्रत सत्य और अहिसा अथवा सत्यके गर्भमे स्थित है। वे इस प्रकार दिखाए जा सकते है

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, इत्यादि। चाहे तो हम इस क्रमको और वढा सकते है।
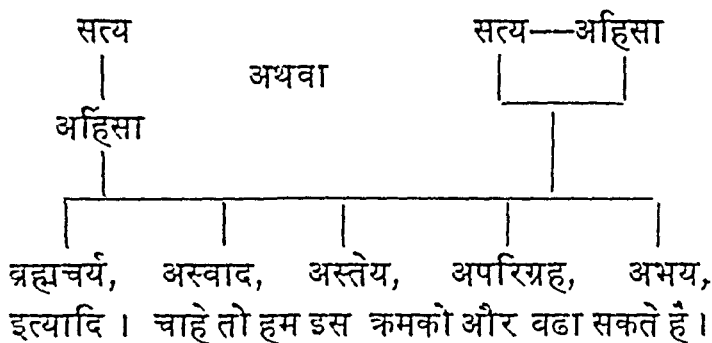
सत्यमेसे अहिसाकी उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिसाका जोडा मान सकते है। दोनो वस्तुए एक ही है, तथापि मेरा मन पहलेकी ओर झुकता है। अतिम स्थिति जोडेसे—द्वद्वसे—अतीत है। परम सत्य अकेला स्थित रहता है। सत्य साध्य है, अहिसा साधन है। अहिसाको हम जानते है, यद्यपि पालन कठिन है। सत्यका तो केवल अश ही जानते है, पूर्णरूपसे उसका जानना देहीके लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देहीके लिए अहिसाका पूर्ण पालन।

अस्तेयका अर्थ है चोरी न करना। चोरका सत्यको जानना या प्रेम-धर्मका पालन सभव नही है तथापि हम सव, थोडा-वहुत चोरीका दोप जाने-अनजाने करते है। दूसरेकी चीजको उसकी आज्ञाके विना लेना तो चोरी है ही, पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली

चीजकी भी चोरी करता है—जैसे, एक बाप अपने बच्चोको जनाए बिना, उससे छिपानेकी नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रमका भडार हम सभीका कहलाएगा, पर उसमेसे चुपकेसे गुड़की एक डली भी लेनेवाला चोर है। दूसरे लडकेकी कलम लेने-वाला लडका भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेनेमे भी चोरी है। पडुआ (राहमे पडी) चीजके मालिक हम नही है, बल्कि उस प्रदेशका राज या वहाकी सरकार है। आश्रमके नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रमके मत्रीको सौपनी चाहिए। आश्रमकी न होनेपर मत्री उसे पुलिसके हवाले करेगा।

यहातक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है, पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीजकी जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकारमे वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही ले, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी ससारमे ज्यादा-से-ज्यादा खानेकी चीजोके सबधमे होती है। मुझे अमुक फलकी जरूरत नही है, फिर भी मै उसे खाता हू या जरूरतसे ज्यादा खाता

हू, तो यह चोरी है। वस्तुत अपनी आवश्यकताकी मात्राको मनुष्य हमेशा जानता नही है और प्राय हम सब, अपनी जरूरतोको आवश्यकतासे अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते है। विचारनेपर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतोको घटा सकते है। अस्तेयव्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताए कम करता जायगा। इस ससारमे अधिकतर दरिद्रता अस्तेयके भगसे पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियोको बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमारा किसीकी चीज पानेकी इच्छा करना या उसपर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चेका, किसी अच्छी चीजको देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीरसे तो नही खाता, पर दूसरोको खाते देखकर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता है और अपना उपवास भग करता है। जो उपवासी मनमे उपवासके बदले भोजनके मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेगे कि वह अस्तेय और उपवासका भग करता है। अस्तेयव्रतका पालनकर्ता भविष्यमे

मिलनेवाली चीजोके चक्करमे नही पडता। अनेक चोरियोके मूलमे यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचारमे होती है, कल उसे पानेको हम भले-बुरे तरीके काममे लाते है।

वस्तुकी भाति ही विचारोकी चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमे नही सूझता, पर अहकारपूर्वक यह कहना कि हमे ही वह पहले सूझा, विचारकी चोरी करना है। ससारके इतिहासमे ऐसी चोरी अनेक विद्वानोने भी की और आज कर रहे है। मान लीजिए कि मैने आध्रमे नए ढगका एक चरखा देखा, वैसा चरखा मै आश्रममे बनाऊ और फिर कहू कि यह तो मेरा आविष्कार है। तो इसमे मै स्पष्ट रूपसे दूसरेके आविष्कारकी चोरी करता हू और इसमे असत्यका आसरा तो लेता ही हू। अत अस्तेयव्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बडी सादगीसे रहनेकी जरूरत पडती है।

: ६ :

अपरिग्रह

मगलप्रभात

२६–८–३०

अपरिग्रहको अस्तेयसे सबधित समझना चाहिए। वास्तवमे चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक सग्रह चोरीका-सा माल हो जाता है। परिग्रहका अर्थ है सचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिसक परिग्रह नही कर सकता। परमात्मा परिग्रह नही करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अत यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमे समझना चाहिए कि वह हमे आवश्यक चीजे रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओका, भक्तोका यह अनुभव है। रोजके कामभरका रोज पैदा करनेके ईश्वरीय नियमको हम नही जानते, अथवा जानते हुए भी पालते नही है। अत जगतमे विपमता और उससे होनेवाले दु ख भोगते है। धनीके घर उसके लिए अनावश्यक चीजे भरी रहती है, मारी-मारी फिरती है, खराब होती रहती है, दूसरी ओर उनके अभावमे करोडो मनुष्य भटकते

फिरते है, भूखो मरते है, जाडेसे ठिठुरते है। यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभरको ही सग्रह करे तो किसीको तगी न हो और सबको सतोष रहे। आज तो दोनो ही तगी अनुभव करते हैं। करोडपति अरबपति होनेको छटपटाता है, उसे सतोष नही रहता, कगाल करोडपति होना चाहता है। उसे पेट भरनेभरको ही पाकर सतोष होता दिखाई नही देता; परतु कगालको पेटभर पानेका अधिकार है और समाजका धर्म है कि उसे उतना प्राप्त करा दे। अत उसके और अपने संतोषके लिए शुरुआत धनी-को करनी चाहिए। वह अपना अत्यत परिग्रह त्याग दे तो दरिद्रके कामभरको सहजमे मिल जाय और दोनो पक्ष सतोषका सबक सीखे। आदर्श, आत्यतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मनसे और कर्मसे दिगबर है। यहातक कि वह पक्षीकी भाति बिना घरके, बिना वस्त्रोके और बिना अन्नके विच-रण करता है। अन्न तो उसे रोजकी जरूरतभरको भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थितिको तो बिरले ही पहुंच सकते है। हम मामूली दर्जेके सत्या-ग्रहके जिज्ञासुओको तो चाहिए कि आदर्शको ध्यानमे रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जाच करते रहे

और जहातक बने उसे घटाते रहे। सच्चे सुधारका, सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढाना नही है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जानेसे सच्चा सुख और सच्चा सतोष बढता जाता है सेवा-शक्ति बढती है। इस दृष्टिसे विचारने और बरतनेपर हमे मालूम होगा कि आश्रममे हम लोग बहुत-सा सग्रह ऐसा करते है कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नही कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे पडोसीको चोरी करनेके लालचमे फँसाते है। अभ्याससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको घटा सकता है और ज्यो-ज्यो घटाता जाता है त्यो-त्यो वह सुखी, शात और सब तरहसे आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्यकी, आत्माकी दृष्टिसे विचारिए तो शरीर भी परिग्रह है। भोगकी इच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छाके अत्यत क्षीण हो जानेपर शरीरकी जरूरत नही रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिजडेमे कैसे बद रह सकता है? यह पिजडा बनाए रखनेको अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरेको कैसे मार सकता है? यो विचार करते हुए हम आत्यतिक त्यागको पहुच जाते है और शरीरकी

स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते है और यहातक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खूराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊघना सब सेवाके लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अतमे सत्यकी झाकी करेगा। इस दृष्टिसे हम सबको अपने परिग्रहपर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखे कि वस्तुओकी भाति, विचारका भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमागमे निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमे ईश्वरसे विमुख रखते हों अथवा ईश्वरके प्रति न ले जाते हो वे सब परिग्रहके अंदर आते है और इसलिए त्याज्य है। भगवानकी तेरहवे अध्यायमे दी हुई ज्ञानकी यह परिभाषा हमे खयालमे लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही——तो हम आज जो बहुत कुछ ज्ञानके नामसे सग्रह करते है, वह अज्ञान ही है और उससे लाभके बदले हानि होती है, दिमाग फिर जाता है, अंतमे खाली हो जाता है, असतोप फैलता है

और अनर्थ बढते है। इससे यह मतलब नही कि मदता अभीष्ट है । प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए, पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्यकी ओर ले जानेवाली। जिसने सेवाधर्म स्वीकार किया है वह क्षणभर भी सुस्त नही रह सकता। यहा तो सारासारका विवेक सीखनेकी बात है। सेवा-परायण-को यह विवेक सहज-प्राप्त होता है ।

: ७ :

अभय

मगलप्रभात

२–९–३०

सोलहवे अध्यायमे देवी सपद्का वर्णन करते हुए भगवानने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवादमे मै नही पडता कि ऐसा श्लोककी सगतिके सुविधार्थ या अभयको प्रथम स्थान देनेके औचित्यकी दृष्टिसे है। न यह निर्णय करनेकी मुझम योग्यता है। मेरी समझमे अभयको अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभयके विना दूसरी सपत्तिया नही मिल सकती।

अभयके विना सत्यकी खोज कैसे हो सकती है ? अभयके विना अहिसाका पालन कैसे हो सकता है ? हरिके मार्गपर चलना खाडेकी धारपर चलना है, वहां कायरका काम नही है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक। वीरके मानी है भयमुक्त, तलवारादि लटकानेवाला नही। तलवार शूरताका चिह्न नही, बल्कि भीरुताकी निशानी है ।

अभयके मानी है बाहरी भयमात्रसे मुक्ति-- मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुब-परिवारविषयक भय, रोगभय, शस्त्रप्रहारका भय। प्रतिष्ठाका भय, किसीके बुरा माननेका भय। भयकी यह पीढी चाहे जितनी लबी बढाई जा सकती है। साधारणत कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भयको जीत लिया तो सब भयोको जीत लिया, परतु यह यथार्थ नही जान पडता। बहुतेरे मौतका भय छोड़ देते है, तथापि अन्य प्रकारके दु खोसे भागते है। कुछ मरनेको तैयार होनेपर भी सगे-सबधियोका वियोग सहन नही कर सकते। कोई कजूस इनकी परवाह नही करेगा, देह छोड़ देगा, पर बटोरा हुआ धन छोडते घबराएगा। कोई होगा जो

अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करनेको तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई ससारकी निदाके भयसे, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करनेमे हिचकिचाएगा। सत्यकी खोज करनेवालेका तो समस्त भयोको तिला-जलि दिए बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चद्रकी भाति मिट जानेकी तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चद्रकी कथा कल्पित हो, पर आत्मार्थी मात्रका यह अनुभव है। अत उस कथाकी कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथासे अनतगुनी अधिक है और वह सबके लिए सग्रहणीय तथा मननीय है।

अभयव्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्रसे मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोहरहित स्थितिकी पराकाष्ठा है। निश्चय करनेसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढनेसे अभयकी मात्रा बढ सकती है। मैंने आरभमे ही कहा है कि हमे बाहरी भयोसे मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद है उनमे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादिका भय वास्त-विक भय है। इसे जीत लेनेसे बाहरी भयोका उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देहके कारण

है। देहविषयक राग दूर हो जानेसे अभय सहजमे प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टिसे मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी उपज है। धनसे, परिवारसे, शरीरसे 'अपनापन' हटा दे तो फिर भय कहा ? तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा '--यह रामबाण वचन है। कुटुब, धन, देह ज्यो-के-त्यो रहे, कोई आपत्ति नही, इनके बारेमे अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नही, वह 'मेरे' नही है, यह ईश्वरके है, 'मै' उसीका हू, 'मेरी' कहलानेवाली इस ससारमे कोई भी वस्तु नही है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है ? इसलिए उपनिषदकारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बने। वह उसकी रक्षा करनेभरकी ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहे तो सहजमे भयमात्रको जीत ले, सहजमे शाति पा जाय, सत्यनारायणके दर्शन प्राप्त कर ले।

: ८ :

अस्पृश्यता-निवारण

मगलप्रभात

९–९–३०

यह व्रत भी अस्वादव्रतकी भाति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है। पर जितना विचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहा-तहा धर्ममे, धर्मके नाम या वहानेसे विघ्न डालती है और धर्मको कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नही। जैसे भगी, चमार अछूत माने जाते है, पर अछूत नही है, वैसे मृतक (लाश) भी अस्पृश्य नही है, वह आदर और करुणाका पात्र है। मुर्देको छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवानेके बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उचित है। मुर्देको छूकर या तेल लगाकर न नहानेवालेको गदा भले ही कहिए, पर वह पातकी नही है, पापी नही है। यो तो बच्चेका मैला उठानेपर माता जबतक न नहाए या हाथ-पैर न धोए तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते

उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कारसूचक हो गए हैं और वह जन्मसे ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनो साबुन बरसोतक शरीरपर घिसा हो, चाहे वैष्णवका-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखकका पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाशके योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारणको व्रतमें स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता—छुआछूत हिंदू-धर्मका अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिंदूका धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अतः उसे पाप माननेवालोंको चाहिए कि उसका प्रायश्चित्त करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित्तरूपसे भी धर्म समझकर हिंदूको चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहनको अपनावे, प्रेमपूर्वक सेवा-भावसे उसे स्पर्श करे, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझे। अछूतके दुख दूर करे। कुचले जानेके कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषोंको धैर्यपूर्वक

दूर करनेमे उन्हे सहायता दे और दूसरे हिंदुओको भी ऐसा करनेको राजी करे, प्रेरित करे। अस्पृश्यताको इस दृष्टिसे देखते हुए उसे दूर करनेमे होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामोको व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हो या न हो, तथापि अस्पृश्यता-निवारणका व्रतरूपसे आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालोको अपनाएगा। सत्यादिका आचरण करते हुए हमे ऐहिक फलका विचार नही करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारीके लिए कोई युक्ति नही है, वह तो उसके शरीरसे लगी हुई वस्तु है, उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यताकी बुराई समझमे आ जानेपर हमे मालूम होगा कि यह सडन केवल भगी-चमार कहलानेवाले लोगोतक ही सीमित रही हो, सो बात नही है। सडनका स्वभाव है कि पहले राईके दानेके बराबर लगती है, फिर पर्वतका रूप धारण कर लेती है और अतमे जिसमे प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछूतके सबधमे भी है। यह छुआछूत विधर्मियोके प्रति आई है, अन्य सप्रदायोके प्रति आई है, एक ही सप्रदायवालोके बीच भी घुस गई है और यहातक कि कुछ लोग

तो छूआछूतका पालन करते-करते पृथ्वीपर भाररूप हो गए है । वे अपने आपको सभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीनेसे फुर्सत नही पाते, ईश्वरके नामपर ईश्वरको भूलकर वे अपनेको पूजने लग गए है । अत अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भगी-चमारको अपनाकर ही सतोष न मानेगा, वह जीव-मात्रको अपनेमे न देखनेतक और अपनेको जीवमात्रमे न होनेतक शांत न होगा । अस्पृश्यता दूर करनेका अर्थ है समस्त ससारके साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना । इस दृष्टिसे अस्पृश्यता-निवारण अहिसा-का जोडा बन जाता है और वास्तवमे है भी । अहिसाके मानी है जीवमात्रके प्रति पूर्ण प्रेम । अस्पृश्यता-निवारणका भी यही अर्थ है । जीवमात्रके साथ-का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है । अस्पृश्यता-को यो देखनेपर अवश्य यह दोष थोडे-बहुत अशोमे ससारभरमे फैला हुआ है, पर यहा हमने उसका हिदूधर्ममे समाई हुई सड़नके रूपमे विचार किया है, क्योकि हिदूधर्ममे उसने धर्मका स्थान ले लिया है और धर्मके बहाने लाखो या करोडो मनुष्योकी स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है ।

: ६ :

कायिक श्रम

मगलप्रभात
१६–९–३०

कायिक श्रमके मनुष्यमात्रके लिए अनिवार्य होनेकी बात पहले-पहल टाल्स्टायके एक निबधसे मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूपसे इस बातको जाननेके पहले, रस्किनका 'अन्टु दिस लास्ट' पढनेके बाद फौरन ही उसपर मै अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर'का शब्दश अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर'का शब्दश अनुवाद है 'रोटी (के लिए) -श्रम'। रोटीके लिए हर आदमीका मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टायकी नही, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोहकी है। टाल्स्टायने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आखे भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमे पा रही है। यज्ञ किए बिना खानेवाला चोरीका अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञके लिए है। यहा यज्ञका अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है

और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रतकी यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तुकी ओर हमे ले जाती है। मजदूरी न करनेवालेको खानेका क्या अधिकार हो सकता है ? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।" करोडपति भी यदि अपने पलगपर पडा रहे और मुहमे किसीके खाना डाल देनेपर खाय तो बहुत दिनोतक न खा सकेगा। उसमे उसके लिए आनद भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूपमे राजा-रक सभीको अग-सचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करनेकी ही कसरत सब लोग क्यो न करे ? किसानसे हवा खाने या कसरत करनेको कोई नही कहता। और ससारके सैकडे नब्बेसे भी अधिक मनुष्योका निर्वाह खेतीसे होता है। शेप दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करे तो ससारमे कितना सुख, कितनी शाति और कितना आरोग्य फैले ? यदि खेतीके साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेतीके कामकी अनेक

कठिनाइया सहजमे दूर हो जाय। इसके सिवा यदि कायिक श्रमके इस निरपवाद नियमको सभी मानने लगे तो ऊच-नीचका भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहा उच्चताकी गध भी न थी वहा भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्थामे भी वह घुस गई है। मालिक-मजदूर-का भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीरसे ईर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटीके लिए खुद मेहनत करे तो ऊच-नीचका भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धनका केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत केवल लोक-सेवाके लिए करेगा। जिसे अहिसाका पालन करना है, सत्यकी आराधना करनी है, उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाणरूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तवमे देखा जाय तो, खेती ही है। पर आजकी जो स्थिति है उसमे सब उसे नही कर सकते। इस-लिए खेतीका आदर्श ध्यानमे रखकर, आदमी एवजमे दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मलत्याग तो करना ही पडता है। मल-त्याग करनेवालेका

ही अपने मलको गाडना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षोंसे ऐसा मालूम होता रहा है कि जहा भगीका अलग धधा माना गया है वहा कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नही है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्यको किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठह-रानेवालेने हमपर उपकार तो नही ही किया। हम सभी भगी है यह भावना हमारे दिलमे बचपनसे दृढ हो जानी चाहिए और इसे करनेका सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हो वे कायिक श्रमका आरभ पाखाना साफ करनेसे करे। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षणसे धर्मको भिन्न और सच्चे रूपमे समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोगसे अपग वने हुए यदि परिश्रम न करे तो उसे कोई अप-वाद न माने। बालकका समावेश मातामे हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भग न हो तो बूढे अपग न होगे और रोगके होनेकी बात ही क्या है?

: १० :

सर्वधर्म-समभाव

१

मगलप्रभात
२३-९-३०

हमारे व्रतोमे सहिष्णुताके नामसे परिचित व्रतको यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसद न था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नही था। काका साहबको भी यह नही रुचा था। उन्होने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नही जचा। दूसरे धर्मोको सहनेकी भावनामे उनमे न्यूनता मानी जाती है। आदरमे कृपाका भाव आता है। अहिसा हमे दूसरे धर्मोके प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिसाकी दृष्टिसे पर्याप्त नही है। दूसरे धर्मोके प्रति समभाव रखनेके मूलमे अपने धर्मकी अपूर्णता स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्यकी आराधना, अहिसाकी कसौटी यही सिखाती है। सपूर्ण सत्यको यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्यके आग्रहकी क्यो बात थी ? तब तो

हम परमेश्वर हो गए होते, क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्यको पहचानते नही है, इसलिए उनका आग्रह करते है। इसीसे पुरुषार्थकी गुजाइश है। इसमे अपनी अपूर्णताकी स्वीकृति आ गई। यदि हम अपूर्ण है तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतंत्र धर्म सपूर्ण है। हमने उसे देखा नही है, वैसे ही जैसे ईश्वरको नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्त्तन होते रहते है, होते रहेगे। यह होनेसे ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते है, सत्यकी ओर, ईश्वरकी ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ सकते है। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मोंको अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसीको ऊच-नीच माननेकी बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे है, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोषके पात्र है। समभाव होनेपर भी हम उनमे दोष देख सकते है। हमे अपनेमे भी दोष देखना चाहिए। उस दोषके कारण उसका त्याग न करे, बल्कि दोषको दूर करे। इस प्रकार समभाव रखनेसे दूसरे धर्मोंके ग्राह्य अशको अपने धर्ममें लेते सकोच न होगा। इतना ही नही, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त है, पर मनुष्य-कल्पित होनेके कारण, मनुष्यद्वारा उनका प्रचार होनेके कारण वे अपूर्ण है। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषामे मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टिसे, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे है। पर झूठा होना भी असभव नही है। इसीलिए हमे सब धर्मोके प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्मके प्रति उदासीनता नही आती, बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मोके प्रति समभाव आनेपर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते है। धर्माधता और दिव्यदर्शनमे उत्तर-दक्षिण जितना अतर है। धर्मज्ञान होनेपर अतराय मिट जाते है और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभावके विकाससे हम अपने धर्मको अधिक पहचान सकते है।

यहा धर्म-अधर्मका भेद नही मिटता। यहा तो उन धर्मोकी बात है जिन्हे हम निर्धारित धर्मके रूपमे जानते है। इन सभी धर्मोके मूल सिद्धात एक ही है। सभीमे सत स्त्री-पुरुष हो गए है, आज भी

मौजूद है। इसलिए धर्मोके प्रति समभावमे, और धर्मियो--मनुष्योके प्रति जिस समभावकी बात है उसमे, कुछ अतर है। मनुष्यमात्र--दुष्ट और श्रेष्ठके प्रति, धर्मी और अधर्मीके प्रति समभावकी अपेक्षा है, पर अधर्मके प्रति वह कदापि नही है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुतसे धर्मोकी आवश्यकता क्या है? हम जानते है कि धर्म अनेक है। आत्मा एक है, पर मनुष्य देह अगणित है। देहकी असख्यता टाले नही टल सकती, तथापि आत्माकी एकताको हम पहचान सकते है। धर्मका मूल एक है, जैसे वृक्षका, पर उसके पत्ते असख्य है।

: ११ :

सर्वधर्म-समभाव

२

मगलप्रभात

३०-९-३०

यह विषय इतने महत्वका है कि इसे यहा और विस्तारसे लिखना चाहता हू। अपना कुछ अनुभव लिख दू तो शायद समभावका अर्थ अधिक स्पष्ट

हो जाय। यहाकी तरह फिनिक्समे भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहा हिंदू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लडके प्राय उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजीको 'मनेवालु-वहालु दादा रामजीनु नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) वहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक वार मगनलाल या काशी हम सवको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लासमे वोल उठे, "'दादा रामजी'के वदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गानेवालोने इस सूचनापर तुरत इस तरह अमल किया मानो वह विलकुल स्वाभाविक हो। और इसके वादसे रुस्तमजी जव उपस्थित होते तव तो अवश्य ही, और वे न होते तव भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द'के नामसे गाते। स्व० दाऊद सेठका पुत्र हुसेन तो आश्रममे वहुत वार रहता। वह प्रार्थनामे उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद वहुत मधुर सुरमे 'आर्गन'के साथ 'यह वहारे वाग-दुनिया चद रोज' गाया करता और वह भजन हम सवको उसने सिखा दिया था। वह वहुत वार प्रार्थनामे गाया जाता था। हमारे यहाकी आश्रमभजनावलीमे उसे स्थान मिला है, वह सत्य-प्रिय

हुसेनकी स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परतासे सत्यका आचार करनेवाला नवयुवक मैने नही देखा। जोसफ रोयपेन आश्रममे अकसर आते जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हे 'वैष्णव-जन'वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। सगीतका उन्हे अच्छा ज्ञान था। उन्होने 'वैष्णव-जन'के स्थानपर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिए' अलाप दिया। सबने तुरत उनका साथ दिया। मैने देखा कि जोसफके आनदका पारावार न रहा।

आत्मसतोषके लिए अब मै भिन्न-भिन्न धर्म-पुस्तके उलट रहा था तब मैने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिदू इतनोकी पुस्तकोका अपने संतोषभरके लिए परिचय कर लिया था। मै कह सकता हूं कि इस अध्ययनके समय सभी धर्मोके प्रति मेरे मनमे समभाव था। मै यह नही कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्दका भी पूरा परिचय न रहा होगा, परंतु उस समयकी अपनी स्मृतिया ताजी करता हूं तो मुझे याद नही आता कि उन धर्मोके सबधमे टीका-टिप्पणी करनेकी इच्छातक हुई हो। वरन् उनके ग्रथोको धर्मग्रंथ मानकर आदरपूर्वक पढता और सबमें मूल नैतिक

सिद्धात एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बाते मै नही समझ सकता था। यही बात हिदू-धर्मग्रथोके सबधमे भी थी। आज भी कितनी ही बाते नही समझता, पर अनुभवसे देखता हू कि जिसे हम नही समझ सकते वह गलत ही है, यह माननेकी जल्द-बाजी करना भूल है। कितनी ही बाते पहले समझमें नही आती थी, वे आज दीपककी तरह दिखाई देती हे। समभावका अभ्यास करनेसे अनेक गुत्थिया अपने आप सुलझ जाती है और जहा हमे दोष ही दिखाई दे, वहा उन्हे दरसानेमे भी नम्रता और विवेक होनेके कारण किसीको दुख नही होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेखमें मैने कहा है कि धर्म-धर्मका भेद रहता है और धर्मके प्रति समभाव रखनेका अभ्यास करना यहा उद्देश्य नही है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्मका निर्णय करनेमे ही क्या समभावकी शृखला नही टूट जाती? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी सभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परतु हममे यदि वास्तविक अहिसा मौजूद रहे तो हम वैरभावमेसे बच जाते है, क्योकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्मका आचरण करनेवालेके प्रति तो

प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमे दिखाएगा। या दोनों एक-दूसरेके मतभेदको सहन करेगे। अतमे विपक्षी अहिसक न हुआ तो वह कठोरतासे काम लेगा। तो भी हम अहिसाके सच्चे पुजारी होगे तो इसमे सदेह नही कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता-को अवश्य दूर कर देगी। दूसरेको, भूलके लिए भी, हमे पीड़ा नही पहुचानी है। हमे खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियमका पालन करनेवाला सभी सकटो-मेसे वच जाता है।

: १२ :

नम्रता

मंगलप्रभात

७–१०–३०

इसे व्रतोमे पृथक् स्थान नही है और हो भी नही सकता। अहिसाका यह एक अर्थ है, अथवा यो कहिए कि उसके अतर्गत है, परतु नम्रता अभ्याससे प्राप्त नही होती, वह स्वभावमे ही आ जानी चाहिए। जव आश्रमकी नियमावली पहलेपहल

बनी तब मित्रोके पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जीने नम्रताको व्रतोमे स्थान देनेकी सूचना की थी और तब भी उसे व्रतोमे स्थान न देनेका मैने वही कारण बतलाया था जो यहा लिख रहा हू। यद्यपि व्रतोमे उसे स्थान नही है तथापि वह व्रतोकी अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है, आवश्यक तो है ही। परतु नम्रता किसीको अभ्याससे प्राप्त होती नही देखी गई। सत्यका अभ्यास किया जा सकता है, दयाका अभ्यास किया जा सकता है, परतु नम्रताके सबधमे, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दभका अभ्यास करना है। यहा नम्रतासे तात्पर्य उस वस्तुसे नही है जो बडे आदमियोमे एक दूसरेके सम्मानार्थ सिखाई-पढाई जाती है। कोई बाहरसे दूसरेको साष्टाग नमस्कार करता हो, पर मनमे उसके सबधमे तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नही, लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनिसरीखा बनकर समाजमे बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नही, पाखडी है। नम्र मनुष्य खुद नही जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादिका नाप हम अपने पास रख सकते है, पर नम्रताका नही। स्वाभाविक नम्रता छिपी नही

रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नही देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्रका उदाहरण तो आश्रममे हम लोगोने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यतातक पहुच जानी चाहिए। हम कुछ है, यह भूत मनमे घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टीमे मिल गए। व्रत-पालन करनेवाला यदि मनमे अपने व्रत-पालनका गर्व रखे तो व्रतोका मूल्य खो देगा और समाजमे विषरूप हो जायगा। उसके व्रतका मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रताका अर्थ है अहभावका आत्यतिक क्षय। विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इस ससारमे जीवमात्र एक रजकण-की अपेक्षा अधिक कुछ नही है। शरीरके रूपमे हम लोग क्षणजीवी है। कालके अनत चक्रमे सौ वर्षका हिसाव किया ही नही जा सकता; परंतु यदि हम इस चक्करसे वाहर हो जायं, अर्थात् 'कुछ नही हो जाय,' तो हम सब कुछ हो जायं। होनेका अर्थ है ईश्वरसे—परमात्मासे—सत्यसे—पृथक् हो जाना। कुछका मिट जाना परमात्मामे मिल जाना है। समुद्रमे रहनेवाला बिंदु समुद्रकी महत्ताका उपभोग करता है, परतु उसका उसे ज्ञान नही होता। समुद्रसे

अलग होकर ज्यो ही अपनेपनका दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवनको पानीके बुलबुलेकी उपमा दी गई है, इसमे मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नही दिखाई देती।

ऐसी नम्रता--शून्यता--अभ्याससे कैसे आ सकती है? पर व्रतोको सही रीतिसे समझ लेनेसे नम्रता अपने आप आने लगती है। सत्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाला अहकारी कैसे हो सकता है? दूसरेके लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहा घेरने जायगा? उसने तो जब प्राण न्योछावर करनेका निश्चय किया तभी अपनी देहको फेक दिया। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलाएगी? हिदू-धर्मने ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे वहुत जगह आलस्यको, पाखडको स्थान मिल गया है। वास्तवमे नम्रताका अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है, परतु वह सब परमार्थके लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वय चौबीसो घटे एक सास काम करता रहता है, अगडाई लेने तकका अवकाश नही लेता। हम उसके हो जाय, उसमे मिल जाय तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतद्रित हो गया--हो जाना चाहिए। समुद्रसे अलग हो जानेवाले बिदुके लिए

हम आरामकी कल्पना कर सकते है, परंतु समुद्रमे रहनेवाले बिदुके लिए आराम कहा ? समुद्रको एक क्षणके लिए भी आराम कहा मिलता है ? ठीक यही वात हमारे संबधमे है । ईश्वररूपी समुद्रमे हम मिले और हमारा आराम गया, आरामकी आवश्यकता भी जाती रही । यही सच्चा आराम है । यह महा-अशांतिमे शाति है । इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवमात्रकी सेवाके लिए सर्वार्पणकी आशा रखती है । सबसे निवृत्त हो जानेपर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार । इस अवस्थाका वर्णन करना कठिन है, परतु अनुभव-गम्य है वह । जिसने सर्वार्पण किया है उसने इसका अनुभव किया है । हम सब अनुभव कर सकते है । यह अनुभव करनेके उद्‌देश्यसे ही हम लोग आश्रममे एकत्र हुए है । सव व्रत, सव प्रवृत्तिया यह अनुभव करनेके लिए ही है । यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा । केवल उसीको खोजने जानेसे वह प्राप्त नही है ।

स्वदेशी आत्माका धर्म है, पर वह विसर गया है, इससे उसके विषयमें व्रत लेनेकी जरूरत रहती है। आत्माके लिए स्वदेशीका अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधो-से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है, क्योंकि देह अन्य आत्माओंके साथ एकता स्थापित करनेमे वाधक होती है, उसके मार्गमे विघ्नरूप है। जीवमात्रके साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्मको जानने और पालनेवाला देहका भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते है कि अपने पास रहनेवालोकी सेवामे ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभा-सित होना संभव है कि दूरवाले वाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशीकी शुद्ध सेवा करनेमे परदेशीकी भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूरकी सेवा करनेका मोह रखनेमे वह हो नही पाती और पडोसीकी सेवा छूट जाती है। यों इधर-उधर दोनों विगड़ते है। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुवीजन अथवा ग्रामवासियोको मैने छोडा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। दूरवालोकी सेवा करने जानेमे उनकी

सेवा करनेका जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहाका वातावरण विगडा और अपना तो विगडकर चला ही था। यो हर तरहसे उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाव सामने रखकर स्वदेशी-धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह' वाक्यकी उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशीको समझ न पानेसे ही गडवडी होती है। कुटुवपर मोह रखकर मै उसे पोसू, उसके लिए धन चुराऊ, दूसरे प्रपच रचू, तो यह स्वदेशी नही है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्मकी खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्मके पालनसे परधर्मीको या परधर्मको कभी हानि पहुच ही नही सकती, न पहुचनी चाहिए। पहुचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नही, वल्कि स्वाभिमान है, अत वह त्याज्य है।

स्वदेशीका पालन करते हुए कुटुबका वलिदान भी देना पडता है, पर वैसा करना पडे तो उसमे

भी कुटुंबकी सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपनेको खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंबको खोकर कुटुबकी रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गांवमे महामारी हो गई। इस बीमारीके चगुलमे फँसे हुओकी सेवामे मै अपनेको, पत्नीको, पुत्रोको, पुत्रियोको लगाऊं और इस रोगमे फँसकर मौतके मुंहमे चले जाय तो मैने कुटुंबका संहार नही किया, मैने उसकी सेवा की। स्वदेशीमे स्वार्थ नही है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ; शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थकी पराकाष्ठा।

इस विचारधाराके अनुसार मैने खादीमे सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझमे आनेयोग्य, सभीको जिसके पालनेकी इस युगमे, इस देशमे भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है? जिसके अनायास पालनेसे भी हिंदुस्तानके करोडोकी रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है? जवावमे चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्मके पालनसे परदेशी मिलवालोको नुकसान होता है। चोरको चुराई हुई

चीज वापस देनी पडे या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमे उसे नुकसान नही है, फायदा है। पडोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड दे तो इससे कलवारको या अफीमके दुकानदारको नुकसान नही, लाभ है। अयोग्य रीतिसे जो अर्थ साधते हो उनके उस अर्थका नाश होनेमे उनको और जगतको फायदा ही है।

पर जो चर्खेद्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-पहनाकर स्वदेशी धर्मका पूर्ण पालन हुआ मान बैठते है वे महामोहमे डूबे हुए है। खादी सामाजिक स्वदेशीकी पहली सीढी है, इस स्वदेशी धर्मकी परि-सीमा नही है। ऐसे खादीधारी देखे गए है जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते है। वे स्वदेशीका पालन नही करते। वे तो प्रवाहमे बहनेवाले है। स्वदेशी व्रतका पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहा-जहा पडोसीकी सेवा की जा सकती है अर्थात् जहा-जहा उनके हाथका तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहा-वहा वह दूसरा छोडकर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महगी और कम दर्जेकी ही क्यों न हो। इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवानेका प्रयत्न करेगा।

कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काममे नही लाने लग जायगा ।

किंतु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएमे डूबेगा नही । जो वस्तु स्वदेशमे नही बनती अथवा महा-कष्टसे ही बन सकती है वह परदेशके द्वेषके कारण अपने देशमे बनाने बैठ जाय तो उसमे स्वदेशी धर्म नही है । स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशीका कभी द्वेष नही करेगा । अत पूर्ण स्वदेशीमे किसीका द्वेष नही है । यह सकुचित धर्म नही है । यह प्रेममेसे, अहिसामेसे पैदा हुआ सुदर धर्म है ।

: १५ :

व्रतकी आवश्यकता

मंगलप्रभात
१४–१०–३०

व्रतके महत्वके संबधमे मै जहा-तहा इस लेख-मालामे लिख गया होऊंगा, परतु व्रत जीवनके गठनके लिए कितने आवश्यक है, यहा इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है । व्रतोके सबंधमे लिख चुकनेके बाद अब उन व्रतोकी आवश्यकतापर विचार करेगे ।

ऐसा एक सम्प्रदाय है और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमोंका पालन करना उचित है, पर उनके संबंधमें व्रत लेनेकी आवश्यकता नहीं, इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मनकी निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेनेके बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्य है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरणके लिए, शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ? दवाकी भांति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीनेका व्रत यह तो गलेमें फंदा डालनेके समान है। और जो बात शराबके बारेमें है वही बात दूसरी चीजोंके बारेमें है। झूठ भी भलाईके लिए क्यों न बोला जाय?' मुझे इन दलीलोंमें तत्व नहीं दिखाई देता। व्रतका अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनोंको पार कर जानेके लिए ही तो व्रतकी आवश्यकता है। असुविधा सहन करनेपर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसारका अनुभव इस बातकी गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चयके बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर

उठ नही सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय, व्रत नही कहलाता। वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अंतमे पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करनेका धर्म अवश्य प्राप्त होता है, पर ऐसी वस्तुके लिए कोई व्रत नही लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरणकी हमे आदत नही पडी उसके सबधमे व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टातमे तो पापका आभासमात्र सभव है। सत्य कहनेसे किसीकी हानि हो जायगी तो ? सत्यवादी ऐसा विचार करने नही बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्यसे इस संसारमे किसीकी हानि नही होती और हो सकती भी नही। मद्य-पानके विषयमे भी यही बात है। या तो इस व्रतमे दवाके लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रतके पीछे शरीरके लिए जोखिम उठानेका भी निश्चय रहना चाहिए। दवाके तौरपर भी शराब न पीनेसे शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीनेसे शरीर रहेगा ही इसका पट्टा कौन लिख सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारणसे वह न रहा, तो उसकी जवाबदेही

किसके सिर होगी ? इसके विपरीत, शरीर-रक्षाके लिए भी शराब न पीनेके दृष्टातका चमत्कारिक प्रभाव शराबकी लतमे फँसे हुए लोगोपर पडे तो ससारका कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्मका पालन करना ही है—ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वरकी झाकी कर सकते है। व्रत लेना निर्बलतासूचक नही, वरन् बलका सूचक है। अमुक बातका करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमे बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नामसे पुकारे तो उसमे हर्ज नही है; परतु 'जहातक हो सकेगा करूगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमानका परिचय देता है, भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे। इसमे नम्रताकी गधतक नही है। मैने तो अपने और बहुतोके जीवनमे देखा है कि 'जहातक हो सकेगा', यह शब्दावली शुभ निश्चयोमे विषके समान है। 'जहातक हो सकेगा' वहातक करनेके मानी है पहली ही अडचनके सामने गिर पडना। 'सत्यका पालन जहातक हो सकेगा करूगा' इस वाक्यका कोई अर्थ ही नही है। व्यापारमे यथासभव अमुक तारीखको अमुक रकम

चुका दी जायगी इस तरहकी चिट्ठी, चेक या हुडीके रूपमे स्वीकार नही की जाती। उसी तरह जहांतक हो सकेगा वहातक सत्य-पालन करनेवालेकी हुडी भगवानकी दूकानमे नही भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चयकी, व्रतकी सपूर्ण मूर्ति है। उसके नियमोसे एक अणु भी इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सूर्य महाव्रतधारी है, उससे ससारका काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचागोकी रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपनेको सुरक्षित पाते है। व्यापारमात्र एक पक्की प्रतिज्ञाके आधारपर चलते है। व्यापारी एक दूसरेके प्रति वादेसे बधे न हों तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहा हमारे अपने जीवनके गठनका प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वरदर्शन करनेका प्रश्न हो, वहा व्रतके विना कैसे काम चल सकता है ? इसलिए व्रतकी आवश्यकताके विषयमे हमारे मनमे कभी शका उठनी ही न चाहिए।

आश्रमवासियोंसे

[आश्रमजीवन-विषयक नीति-नियम]

आश्रमवासियोंसे

: १ :

मृत्युमित्र

यरवदा-मंदिर
२९–२–३२

साक्रेटिस (सुकरात) एथेस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुप हो गया है। उसके नए, पर नीति-वर्धक विचार राजशक्तिधारियोको न रुचे। इससे उसे मौतकी सजा मिली। उस जमानेमे उस देशमे विषपान करके मर जानेकी सजा भी दी जाती थी। साक्रेटिसको मीराबाईकी तरह जहरका प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटिसने जो अतिम वचन कहे उनके सारपर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटिसको हम सुकरात कहते है, अरब भी इसी नामसे पुकारते है।

सुकरातने कहा, "मेरा दृढ विश्वास है कि भले आदमीका इस लोक या परलोकमे अहित होता

ही नही । भले आदमियो और उनके साथियोका ईश्वर कभी त्याग नही करता । फिर मै तो यह भी मानता हूं कि मेरी या किसीकी भी मौत अचानक नही आती । मृत्युदंड मेरे लिए सजा नही है । मेरे मरने और उपाधिसे मुक्त होनेका समय आ गया है । इसीसे आपने मुझे जहरका प्याला दिया है । इसीमे मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देनेवालोके प्रति मेरे मनमे क्रोध नही है । उन्होने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके ।

"महाजन-मडलसे मेरी एक विनती है मेरे बेटे अगर भलाईका रास्ता छोडकर कुमार्गमे जायं और धनके लोभी हो जाय तो जो सजा आप मुझे दे रहे है वही उन्हे भी दे । वे दभी हो जाय, जैसे न हो वैसे दिखानेकी कोशिश करे, तो भी उनको दड दे । आप ऐसा करेगे तो मै और मेरे बेटे मानेगे कि आपने शुद्ध न्याय किया ।"

अपनी सतानके विषयमे सुकरातकी यह माग अद्भुत है । जो महाजन-मडल न्याय करनेको बैठा था वह अहिसाधर्मको तो जानता ही न था । इससे सुकरातने अपनी सतानके बारेमे उपर्युक्त प्रार्थना की, अपनी

सतानको चेताया और उमसे उसने क्या आशा रखी थी यह वताया । महाजनोको मीठी फटकार वताई, क्योकि उन्होने सुकरातको उसकी भलमनसीके लिए सजा दी थी । सुकरातने अपने वेटोको अपने रास्तेपर चलनेकी सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेसके नागरिकोको वताया वह उसके लडकोके लिए भी है । और वह यहातक कि अगर वे उस रास्तेपर न चले तो वे दडके योग्य समझे जाय ।

: २ :

शिक्षाके विषयमे कुछ विचार

यरवदा-मदिर
२८-३-३२

जॉन रस्किन उत्तम प्रकारका लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था । उसका देहात १८८०[1] के आसपास हुआ । अधिकाश आश्रमवासियोको यह बात तो मालूम होनी ही चाहिए कि उसकी एक पुस्तकका

[1] जॉन रस्किनका जन्म १८१९ ई० में और मृत्यु १९०० ई० में हुई ।—अनु०

मुझपर बहुत ही गहरा असर हुआ और उससे ही प्रेरणा प्राप्त कर मैंने अपने जीवनमे महत्त्वका परिवर्त्तन एक क्षणमे कर डाला । सन् १८७१ मे उसने केवल श्रमिक वर्गको सामने रखकर मासिक रूपमे पत्र या लेख-माला लिखना आरभ किया था । इन पत्रोकी प्रशंसा मैंने टाल्स्टायके किसी निबधमे पढी; पर अबतक मै उसके अकोको प्राप्त न कर सका था । रस्किनकी प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्यके विषयपर एक पुस्तक मेरे साथ आई थी, वह मैंने यहां पढी । इसमे भी इन पत्रोका उल्लेख हुआ है । उसे देखकर मैंने विलायतमे रस्किनकी एक शिष्याको लिखा । वही उक्त पुस्तककी लेखिका है । वह बेचारी गरीब ठहरी । अत ये पुस्तके कहासे भेजती ? मूर्खता या मिथ्या विनयवश मैंने उसे यह न लिखा कि आश्रमसे पैसे मंगा लेना । उस भली महिलाने मेरा पत्र अपने एक अपेक्षाकृत समर्थ मित्रके पास भेज दिया । वह 'स्पेक्टेटर' पत्रके संपादक थे । उनसे मै विलायतमे मिल भी चुका था । रस्किनके उक्त पत्र पुस्तकाकार चार खडोमे प्रकाशित हुए है । वह उन्होने भेज दिए । उनमेका पहला भाग मै पढ रहा हू । उसके विचार उत्तम है और हमारे बहुतसे विचारोसे मिलते है । यह मेल इतना है कि

अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रममे जो कुछ हम आचरण करते है वह सब रस्किनके इन निबंधोसे चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्दका अर्थ तो समझमे आया ही होगा। जो विचार या आचार जिसके पाससे लिया गया हो उसका नाम छिपाकर वह अपनी कृति है यह दिखाया जाय तो वह चुराया हुआ कहा जायगा।

रस्किनने बहुत लिखा है। उसमेसे थोडा ही इस वक्त देना चाहता हू। रस्किनका कहना है कि यह जो कहा जाता है कि बिलकुल अक्षरज्ञान न होनेसे 'कुछ भी होना अच्छा है, उसमे गभीर भूल है। उसका स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्माकी पहचान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। अनतर उसने कहा है कि इसी जगत्मे मनुष्यमात्रको तीन पदार्थो और तीन गुणोकी आवश्यकता है। जो इन्हे पनपाना नही जानता वह जीनेका मत्र ही नही जानता। अत ये छ चीजे ही शिक्षाकी नीव-रूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्रको बचपनमे —वह लडका हो या लडकी—यह जान लेना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी

किसे कहना चाहिए, उन्हे किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणोमे उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेमको गिनाया है। जिसको सत्यादि गुणोंकी कदर नही है, जो सुदर वस्तु-को पहचान नही सकता, वह अपने घमडमे भटकता है और आत्मानद नही प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमे आशावाद नही है, अर्थात् जो ईश्वरीय न्यायके विषयमे शकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुल्लित नही रह सकता, और जिसमे प्रेम नही, यानी अहिसा नही, जो जीवमात्रको अपना कुटुबी नही मान सकता, वह जीनेका मत्र कभी साध नही सकता।

इस विषयपर रस्किनने अपनी चमत्कारभरी भाषामे बहुत विस्तारसे लिखा है। इसे तो किसी वक्त अपने समाजके समझने लायक रूपमे लिख सकू तो अच्छा ही है। आज तो इतनेसे ही सतोष कर लेता हू। साथ ही यह कह देना चाहता हू कि जिन बातोको हम अपने गवारू शब्दोमे सोचते आए है और जिन्हे आचारमे उतारनेका यत्न कर रहे है लगभग उन्ही सब-को रस्किनने अपनी प्रौढ और सुसस्कृत भाषामे, अग्रेजी-भाषी जनता समझ सके इस रीतिसे, प्रकट किया है। यहा मैंने तुलना दो भिन्न भाषाओकी नही की

है, वल्कि दो भाषाशास्त्रियोकी की है। रस्किनके भाषाशास्त्रके ज्ञानका मुकावला मुझ-जैसा आदमी नही कर सकता। पर ऐसा समय अवश्य आयगा जब कि मातृभाषा का प्रेम बढेगा, उस समय भाषा के पीछे मेहनत करने वाले विद्वान रस्किन की प्रभावशाली अग्रेजी जैसी जोरदार गुजराती लिख सकेगे।

: ३ :

आकाशदर्शन

१

यरवदा-मदिर

११-४-३२

सत्यके पुजारीका रस अनत होता है। सत्य-नारायणकी झाकीके लिए वह अपने आपको कभी बूढा नही मानता। जो हर काम सत्यरूप ईश्वरके ही प्रीत्यर्थ करता है, जो सर्वत्र सत्यको ही देखता है, उसके लिए बुढापा विघ्नरूप नही होता। सत्यार्थी अपने ध्येयको ढूढनेके लिए अमर है, अजर है।

यह सुदर स्थिति मै तो वरसोसे भोग रहा हू।

जिस ज्ञानसे जान पडे कि मे सत्यदेवके अधिक पास पहुच रहा हूं उसके पीछे जानेमे वुढापा मुझे बाधक नही हुआ। इसकी ताजा मिसाल मेरे लिए आकाशदर्शन है। आकाशका सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा तो अतरमे अनेक बार उपजी, पर मैंने यह मान लिया था कि मेरे और काम मुझे इस ओर लगनेकी इजाजत न देगे। यह खयाल गलत भले ही हो, पर जबतक मेरा मन अपनी भूल न देख ले तबतक तो वह मेरे लिए रुकावट बनेगी ही। सन् '२२ के कारावासमे भाई शकर-लालको प्रेरणा करनेवाला वहुत करके मै ही था। उस विषयकी पुस्तके मगाई गई। भाई शकरलालने तो इतनी जानकारी कर ली कि जितनेसे उन्हे संतोष हो जाय। मुझे फुर्सत न मिली।

सन् '३०-३१ मे काका साहबका सत्सग मिला। उन्हे इस विषयका अच्छा ज्ञान है। पर मैंने उनसे उसे न पाया। इसलिए कि उस वक्त मुझे सच्ची जिज्ञासा न थी। १९३१मे कारावासके आखिरी महीनेमे यकायक शौक जगा। वाह्य दृष्टिसे जहा सहज ही ईश्वर रहता हो उसका निरीक्षण मैं क्यो न करू? पशुकी तरह आखे महज देखा करे, पर जिसे देखे वह विशाल दृश्य ज्ञानतततक न पहुचे, यह कैसा दयनीय है? ईश्वरकी

महान् लीलाके निरखनेका यह सुयोग कैसे जाने दिया जाता ? यो आकाशको पहचान लेनेकी जो तीव्र इच्छा उपजी उसे अब छिपा रहा हू और यहातक आया हू कि आश्रमवासियोको मेरे मनमे उठनेवाली तरगोमे साझी बनाये विना अब नही रहा जाता।

हमे वचपनसे यह सिखाया गया है कि हमारा शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नामके पचमहाभूतका बना हुआ है। इन सभीके विषयमे हमें थोडा बहुत ज्ञान होना ही चाहिए, फिर भी इन तत्त्वो-के विषयमे हमे बहुत थोडी जानकारी है। इस समय तो हमे आकाशके विपयमे ही विचार करना है।

आकाशके मानी है अवकाश—खाली जगह। हमारे शरीरमे अवकाश न हो तो हम क्षणभर भी न जी सके। जो बात शरीरके विषयमे है वही जगतके विषयमे भी समझनी चाहिए। पृथ्वी अनत आकाशसे घिरी हुई है, हम अपने चारो ओर जो आसमानी रग-की चीज देखते है वह आकाश है। पृथ्वीके छोर—सीमा है। वह ठोस गोला है। उसकी धुरी ७९०० मील लबी है, पर आकाश पोला है। उसकी धुरी माने तो उसका कोई ओर-छोर न होगा। इस अनत आकाशमे पृथ्वी एक रजकणके समान है

और उस रजकणपर हम तो रजकणके भी ऐसे तुच्छ रजकण हैं कि उसकी कोई गिनती ही नही हो सकती। इस प्रकार शरीररूपसे हम शून्य हैं, यह कहनेमे तनिक भी अतिशयोक्ति या अल्पोक्ति नही। हमारे शरीरके साथ तुलना करते हुए चीटीका शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वीके साथ तुलना करनेमे हमारा शरीर उससे हजारो गुना तुच्छ है। तब उसका मोह क्यो हो ? वह छूट जाय तो शोक क्यो करे ?

पर इतना तुच्छ होते हुए भी इस शरीरकी भारी कीमत है, क्योकि वह आत्माका और हम समझे तो परमात्माका—सत्यनारायणका—निवासस्थान है।

यह विचार अगर हमारे दिलमे बसे तो हम शरीर-को विकारका भाजन बनाना भूल जायं, पर अगर हम आकाशके साथ ओतप्रोत हो जायं और उसकी महिमा तथा अपनी अधिकाधिक तुच्छताको समझले तो हमारा सारा घमड चूर हो जाय। आकाशमे जिन असंख्य दिव्य गणोके दर्शन होते है वे न हो तो हम भी न हो। खगोलवेत्ताओने बहुत खोज की है, फिर भी हमारा आकाशविषयक ज्ञान नहीके बराबर है। जितना है वह हमे स्पष्ट रीतिसे बताता है कि आकाश-मे सूर्यनारायण एक दिनके लिए भी अपनी अतन्द्रित

तपश्चर्या वद कर दे तो हमारा नाश हो जाय। वैसे ही चद्र अपनी शीत किरणे लौटा ले तो भी हमारा यही हाल होगा और अनुमानसे हम कह सकते है कि रात्रिके आकाशमे जो असख्य तारागण हमे दिखाई देते है उन सवका इस जगतको वनाए रखनेमे स्थान है। इस प्रकार इस विश्वमे सपूर्ण प्राणियोके साथ, सपूर्ण दृश्योके साथ हमारा वहुत घना सवध है और हम एक दूसरेके सहारे टिक रहे है। अत हमे अपने आश्रयदाता आकाशमे विचरनेवाले दिव्य गणोका थोडा परिचय कर ही लेना चाहिए।

इस परिचयका एक विशेष कारण भी है। हमारे यहा कहावत है—"दूरके ढोल सुहावने।" इसमे वहुत सचाई है। जो सूर्य हमसे इतनी दूर रहकर हमारा रक्षण करता है उसी सूर्यके पास जाकर हम वैठे तो उसी क्षण भस्म हो जाय। यही वात आकाशमे रहनेवाले दूसरे गणोकी भी है। अपने पास रहनेवाली अनेक वस्तुओके गुणदोष हम जानते है, इससे कभी-कभी हमे उनसे विरक्ति होती है, दोषोके स्पर्शसे हम दूषित भी होते है, आकाशके देवगणके हम गुण ही जानते है, उनको निहारते हम थकते ही नही, उनका परिचय हमारे लिए हानिकर हो ही नही

सकता और इन देवोंका ध्यान धरते हुए हमे अपनी कल्पना-शक्तिको नीतिपोषक विचारोसे जितनी दूर ले जाना हो उतनी दूर ले जा सकते है।

इसमे तो शका ही नही कि आकाशके और अपने वीच हम जितना पर्दा खडा करते है उतने ही अशमे अपनी देह, मन और आत्माकी हानि पहुचाते है, हम स्वाभाविक रीतिसे रहते हो तो चौबीसौ घटे आसमानके नीचे ही रहे। यह न हो सके तो जितने समय रह सकते हो उतने समय रहे। आकाशदर्शन अर्थात् तारा-दर्शन तो रातमे ही हो सकता है और सवसे अच्छा तो सोते समय हो सकता है। अत जो इस दर्शनका पूरा लाभ उठाना चाहे उसे तो सीधे आकाशके नीचे ही सोना चाहिए। आसपास ऊचे मकान या पेड हो तो वे इस दर्शनमे विघ्न डालते है।

वच्चोको और वडोको भी नाटक और उनमे दिखाये जानेवाले दृश्य वहुत रुचते है, पर जिस नाटककी योजना प्रकृतिने हमारे लिए आकाशमे की है उसको मनुष्यकृत एक भी नाटक नही पा सकता। फिर नाटक-शालामे आखे विगडती है, फेफडोमे गदी हवा जाती है, और आचरणके विगडनेका भी वहुत डर रहता है। इस प्राकृतिक नाटकमे तो लाभ-ही-लाभ है। आकाशको

निहारनेसे आखोको शांति मिलती है। आकाशके दर्शनके लिए बाहर रहना ही होगा, इसलिए फेफडोको शुद्ध हवा मिलेगी। आकाशको निहारनेसे किसीका आचरण बिगडता आजतक नही सुना गया। ज्यो-ज्यो इस ईश्वरी चमत्कारका ध्यान किया जाता है त्यो-त्यो आत्माका विकास ही होता है। जिसके मनमे रोज रातको सपनेमे, मलिन विचार आते हो वह बाहर सोकर आकाश-दर्शनमे लीन होनेका यत्न कर देखे। उसे तुरत निर्दोष निद्राका आनद मिलेगा। आकाशमे अवस्थित दिव्य गण मानो ईश्वरका मूक स्तवन कर रहे हो। हम जब इस महादर्शनमे तन्मय हो जायगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पडेगे। जिसके आखे हो वह इस नित्य नवीन नृत्यको देखे। जिसके कान हो वह इन अगणित गधर्वोका मूक गान सुने।

आइए, अब हम इनके बारेमे कुछ जाने या मुझे जो बहुत थोडा मिला है, उसमे सब साथियोको साझी बनाऊ। सच पूछिए तो पृथ्वी आदिके विषयमे थोडा सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद आकाश-दर्शन किया जाय तो ठीक कहा जायगा। हो सकता है कि मै जो लिखनेवाला हू वह सब काकासाहबके संपर्कमे आए हुए आश्रमके बालक जानते हो। ऐसा हो

तो अच्छा ही है। मै आश्रमके छोटे-बड़े, नये-पुराने सबके लिए लिख रहा हू। उसमे जिसको रस मिले उसके लिए तो यह विषय बिलकुल ही आसान हो जायगा।

प्रार्थनाके वाद तुरत आकाश-दर्शन करना अच्छा होगा। इसमे एक वार बीस मिनटसे अधिक समय देनेकी जरूरत नही। जो समझेगा वह इसे प्रार्थनाका अग ही मानेगा। वाहर सोनेवाला अकेले जितनी देर ध्यान करना हो करे। थोड़ी ही देरमे उसी ध्यानमे वह सो जायगा। रातमे नीद टूटे तो फिर थोडी देर दर्शन कर ले। आकाश प्रतिक्षण फिरता दिखाई देता है। इससे क्षण-क्षणमे उसके दर्शन बदला ही करते है।

आठ वजे आकाशकी ओर देखिए तो पश्चिममे एक भव्य आकृतिके दर्शन होगे।

पूर्व

दक्षिण
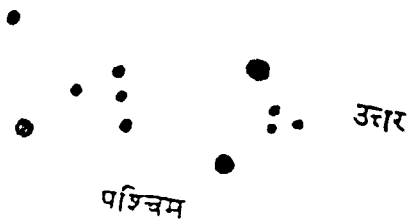
उत्तर

पश्चिम

यह आकृति पश्चिममे होगी। मै पूरबमे सिर

रखकर सामने देख रहा हू । इस तरह देखनेवाला इस आकृतिको भूल सकता ही नही । इन दिनो उजाला पाख है, इसलिए यह तारामडल और कई दूसरे भी कुछ धूमिल दिखाई देते है । फिर भी यह मडल इतना तेजस्वी है कि मुझ-जैसे नौसिखियेको भी उसे ढूढ लेनेमे कठिनाई नही होती । इसके विषयमे हमारे यहा और पश्चिममे लोगोका क्या ख्याल है, यह पीछे बताऊगा । इस वक्त तो इतना ही कहूगा कि इस मडलके स्थानका वर्णन वेदमे देखकर लोकमान्य तिलक महाराज वेदके कालकी खोज कर सके थे । आश्रमके पुस्तक-सग्रहमे स्वर्गवासी दीक्षितजीकी पुस्तक है । उसमे तो बहुत बाते बताई गई है । मेरा काम तो रस उत्पन्न कर देनामात्र है, पीछे तो आश्रमवासियोसे मै अधिक सीख सकूगा । मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वरके साथ सबध जोडनेके एक साधन हो गए है । आश्रमवासियोके लिए भी हो ।

"जैसे (चरखेसे) सूत निकलता है वैसे तू रह और जैसे बने वैसे हरिको प्राप्त कर ।"[1]

---

[1] गुजराती सन्तकवि अक्खा भगत (१६१५-१६७४ ई०)की एक पक्तिका भाव ।—अनु०

: ४ :

आकाश-दर्शन

२

यरवदा-मंदिर

१८-४-३२

पिछली बार तारामंडलका जो चित्र भेजा है उसके विषयमें अनेक कल्पनाएं हैं। इस मंडलके चित्रोंमेंसे एक भी संपूर्ण नहीं होता। जितने तारे चित्रमें दिखाई देते हैं उनसे कहीं अधिक उसमें होते हैं। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि हर आदमी अपने-अपने लिए चित्र बनाए और जितने तारे खाली आंखमें दिखाई दें उनके चिह्न बना ले। इससे तारोंको पहचाननेकी शक्ति तुरंत बहुत बढ़ जायगी और नकशोंमें जो तस्वीरें आती हैं उनकी बनिस्बत अपने हाथों अपने लिए खींचा हुआ चित्र बढ़िया होगा, क्योंकि अलग-अलग जगहोंसे देखनेमें थोड़ा-थोड़ा फर्क तो पड़ता ही है। हर आदमी नियत स्थानसे नियत समयपर निरीक्षण करे तो ज्यादा अच्छा है। यह सूचना नकशेके बारेमें और आरंभ करनेवालेके लिए है। आप एक बार अच्छी तरह नक्षत्रोंकी पहचान कर लें

तो फिर कही भी हो अपने इन दिव्य मित्रो या दिव्य गणोको तुरत पहचान लेगे ।

मद्रासके 'हिंदू' दैनिकके साथ एक साप्ताहिक निकलता हे, वम्बईके 'टाइम्स'के साथ भी निकलता है । दोनोमे हर महीने दिखाई देनेवाले तारक मडलोके नकशे छपा करते है । 'हिंदू'मे हर महीनेके पहले हफ्तेमे और 'टाइम्स'मे दूसरे हफ्तेमे निकलता है । इनमेसे कोई नकशा हाथ आ जाय तो उसमे हमे वहुत कुछ मिल जायगा । 'कुमार' (गुजराती मासिक) का सौवा या गती अक निकलनेवाला है, उसमे भाई हीरालाल शाहने इस विपयपर लेख भेजा है । उनका अध्ययन गहरा मालूम होता है । यह लेख जिसे देखना हो वह देख जाय । मै तो इस लेखके वाद इस विपयपर अधिक न लिखूगा । मै आकाशदर्शन किस रीतिसे कर रहा हू इसको यहा थोडा अधिक स्पष्ट करूगा । इससे आगे जाऊ तो इस हफ्तेमे जो दूसरी चीजे लिखनेको है वे रह जायगी । प्रसगवश कुछ भेज दू तो वह अलग होगा, या फिर किसीके प्रश्नपर भेजू ।

जिस नक्षत्रका चित्र मैने दिया है उसका नाम अपने यहा मृग या मृगशीर्ष है । उसीपरसे हमारे अगहन महीनेका नाम मार्गशीर्ष—मगसिर—पडा है ।

हमारे महीनोंके नाम उन नक्षत्रोके नामपरसे पडे है। मृग-नक्षत्रको पश्चिममे 'ओरायन' कहते है। यह शिकारी है। इसके पूरबमे दो सीधी रेखाओंमे वहुत तेजस्वी तारे है। उनके शिकारीके कुत्ते होनेकी कल्पना की गई है। जो पश्चिममे है वह बड़ा और जो उत्तरमे है वह छोटा कुत्ता है। पूरबकी ओर और दक्षिणमे शिकारीके चौथे कोनेके तारेके नीचे जो नक्षत्र दिखाई देता है वह खरगोश मान लिया गया है। कुत्ते उसकी ओर दौडते है। बीचमे जो तीन तारे है वे शिकारीके कमरबंदके तीन रत्न है।

ऐसी आकृतिया भी खीची गई है। बडे कुत्तेको हमारे यहां लुब्धक और उपर्युक्त तीन तारोंको मृगका पेट कहते है। उसके दक्षिणमे जो तारा है वह लुब्धकका छोडा हुआ वाण है। उत्तर की ओर चतुष्कोणके वाहरके तीन तारे मृगके सिर है। यह सारी कल्पना खासी मनोरंजक है। उसकी उत्पत्तिके विषयमे वहुत लिखा गया है। उसमेसे वहुत ही थोडा मैं पढ पाया हू।

आकाशमे ऐसी आकृति विलकुल नही है। वह हमे जितनी नजदीक दिखाई देती है उतनी नजदीक भी नही है। ये तारे तारे नही, वल्कि सूर्यसे भी वडे सूर्य

है। करोडो मील दूर होनेके कारण वे आकाशमे बूदकी तरह झलकते है। इन सूर्योके विषयमे हमारा ज्ञान बहुत थोडा है, पर अपढ-से-अपढके लिए भी ये तारागण मित्रके प्रयोजनकी पूर्त्ति करते है। क्षणभर उनकी ओर दृष्टि की कि तुरत देखनेवाला चाहे तो अपने सारे दु ख-दर्द भूल जाय और भगवानकी महिमा गाने लगे। तारोको वह ईश्वरके दूत मान सकता है, जो सारी रात हमारी रखवाली किया करते है और हमे आश्वासन देते है। यह तो सत्य सिद्ध हुआ है। तारे सूर्य है, बहुत दूर है, आदि बुद्धिके प्रयोग है। वे हमे ईश्वरकी ओर ले जानेमे जो सहायता देते है वह अवश्य हमारे लिए पूरा सत्य है। शास्त्रीय रीतिसे हम जलको अनेक रीतियोसे पहचानते है, पर उस ज्ञानका शायद कोई उपयोग नही करते। वह प्राण और शरीरको साफ-सुथरा रखनेकी चीज है, यह ज्ञान और उसका यह उपयोग हमारे लिए बडे ही कामके है और हमारे लिए यह उपयोग सत्य है। फिर वस्तुत वह कोई दूसरा ही पदार्थ हो और उसका इससे अधिक उपयोग हो सकता हो तो अच्छा ही है। यही बात तारागणके विषयमे है। उनके उपयोग अनेक है। मैने तो मुझे उनका जो प्रधान गुण जान पडा

उसका ही मनन और तदनुसार उपयोग सुझाया है। जान पड़ता है, कुछ ऐसा ही प्राचीन कालसे चलता आ रहा है। पीछे कालक्रमसे अनेक प्रकारके दूसरे वर्णन उसमे मिल गए और आख्यायिकाए उत्पन्न हुई। इन सबको हम इस विषयमे रुचि बढानेके लिए अवश्य पढे पर जो मूल उपयोग मैंने सुझाया है उसको न भूले।

मृगके उत्तरमे दो दूसरे मडल है, उनकी पहचान हम कर ले—
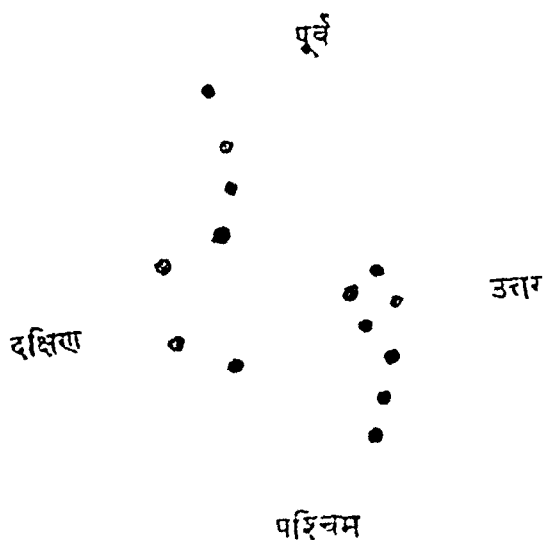
इनमे बडा मडल सप्तर्षि है। छोटेको ध्रुव मत्स्य कहते है। दोनोमे सात-सात तारे दिए है, पर

सप्तर्पिमे दूसरे वहुतसे हें। वे 'टाइम्स' और 'हिंदू' के चित्रोमे मौजूद है। ध्रुव मत्स्यमे दूसरे तारे नही दिखाई देते। इन दिनो उजाले पक्षमे तो शायद तीन ही दिखाई देगे–दो चतुष्कोणके और एक सिरेका—जिसका नाम ध्रुव है। ध्रुव ऐसा तारा है जो लगभग अचल रहता है और इससे पिछले जमानेमे तो नाव-जहाज चलानेवालोको वडी मदद मिलती थी। ये दोनो मडल ध्रुवकी प्रदक्षिणा ही करते हुए जान पडते हे। इन दिनो इनकी गति देखनेका वडा आनद आता है। मारी रात इनका स्थान वदलता रहता है। इसको नोट करते जाय तो इनके मार्गका नकशा खासा कुडलाकार होगा। पश्चिममे इन्हे वडा रीछ और छोटा रीछ कहते है। एक पुस्तकमे तो इनके मुदर चित्र भी मैने देखे है। वडे रीछको हलकी उपमा भी देते है। सप्तर्पि रातके घडियालका काम देते है। थोडा अभ्याम हो जानेके वाद मप्तर्षिकी गतिका समय अवश्य जाना जा सकता है।

पर अमूल्य होते हुए भी ये उपयोग और ये नाम मूल उपयोगके सामने मुझे तुच्छ-से लगते है। हमे चाहिए कि आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हो, तारे जैसे तेजस्वी है वैसे हम तेजस्वी हो। वे जैसे ईश्वरका

मूक स्तवन करते जान पडते है वैसे हम करे। वे जैसे अपना रास्ता एक क्षणके लिए भी नही छोडते वैसे हम भी अपना कर्त्तव्य न छोड़े।

: ५ :

गोशवारेकी आवश्यकता

यरवदा-मदिर
२५-४-३२

आश्रमका इतिहास लिखते समय मनमे अनेक विचार आते है, अपनी अनेक त्रुटियोंकी ओर ध्यान जाता है। उससे मुझे ऐसा लगता है कि हमे समय-समयपर अपना गोशवारा तैयार करना चाहिए। व्यापारी अपने व्यापारका हर रोज गोशवारा—हिसावका खुलासा—तैयार करता है, हर महीने करता है, हर छठे महीने करता है और वडा गोशवारा हर साल वनाता है। हमारा व्यापार आध्यात्मिक माना जायगा, इसलिए आध्यात्मिक गोशवारा वनाना उचित है। हरएकको अपना-अपना तैयार करना चाहिए और समाजको सारी सस्थाका। ऐसा न करे तो गोशवारा न वनानेवाले व्यापारीकी तरह हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकलेगा।

अपने व्रतो और कामो, उद्योगोमे हम आगे बढ रहे है या पीछे छूट रहे है यह हम न जाने तो हम यत्रकी तरह जड बन जायगे और अतमे यत्रसे कम काम करेगे, यानी अपनी हानि करेगे ।

यह गोशवारा हम किस रीतिसे तैयार करे ? इसका जवाब मै कुछ प्रश्न लिखकर दे सकता हू

१ हम असत्य विचारते, बोलते या आचरण करते है ? हम यानी हरएक ।

२ ऐसा है तो वैसा करनेवाला कौन है ? कहा-कहा असत्यका आचरण हुआ ? उसके लिए उसने क्या किया ? आश्रमने क्या किया ?

३ आश्रमके इतने बरसके जीवनमे हम इस विषयमे आगे बढे कि पीछे हटे ?

इस प्रकार सब व्रतोके विषयमे विचार करके जहा-जहा खोट-खामी दिखाई दे वहा-वहा उपाय ढूढे और करे ।

कार्यो, उद्योगोके विषयमे भी यही कर्त्तव्य है। उनके विषयमे तो दूना विचार करना है । आर्थिक दृष्टिसे जमा-खर्च बराबर आता है ? हम मानते है कि भौतिक उद्योगमे अगर दोनो मद बराबर आवे तो यह सभव है कि वह धार्मिक रीतिसे चलाया

गया हो. अगर घाटा आवे या नफा रहे तो अवश्य कही नीति भग हुआ है। दूसरी दृष्टि यह है कि उस उद्योगके चलानेमे धर्मका ही विचार प्रधानत रखा गया है ? आश्रममे यह बात आवश्यक है, क्योकि उसके सारे उद्योग धर्मके अर्थात् सत्यके अधीन है ।

इन दोनो—व्रतो और उद्योगो—के विपयमे यह विचार मनमे आए बिना नही रहते .

१ आश्रममे ही एक दूसरेके बीच सूक्ष्म चोरिया क्यो होती है ?

२ ऐसा वक्त कब और कैसे आयगा जब हममे एक-दूसरेका अविश्वास रहे ही नही ?

३ आश्रममे अब भी बाहरसे चोर क्यो आते है ?

४ हमारा व्यक्तिगत परिग्रह क्यो बढ रहा है ?

५ हमने आसपासके गावोके साथ क्यो सबध नही जोडा ? वह किस तरह जोडा जा सकता है ?

६ आश्रममे अब भी बीमारी क्यो रहा करती है ?

७ आश्रमके मजदूरवर्गके लिए हमने क्या किया ? वे क्यो आश्रमवासी नही बने ? या मजदूर ही आश्रममे क्यो हो ? आश्रममे मालिक और मजदूर ये विभाग ही न हो ?

ऐसे सवाल अभी और बहुतसे सोच सकता हू, पर

मेरे विचार बता देनेके लिए इतने काफी है। मै चाहता हू कि छोटे-बडे सभी विचार करने लग जाय। रोजनामचा रखनेके मेरे आग्रहमे यह हेतु तो था ही।

: ६ :

सप्ताहका सार

यरवदा-मदिर
२–५–३२

अप्रेल मासके शुद्धिसप्ताहपर भाई भगवानजीका पत्र आया है। उसमे कपासकी खरावीकी ओर मेरा ध्यान खीचा गया है। उनको शक है कि कुछ लोगोने जान-बूझकर तार[1] वढाकर लिखे है। खराबी वह दो तरहकी वताते है—एक तो टूटा हुआ सूत जितना चाहिए उससे अधिक है, दूसरे उतावलीमे कातनेसे सूतके नम्बर वहुत कम है।

किसीने जान-बूझकर गलत तार लिखे हो तो इसको मै भारी दोष मानता हू। आश्रमके नामको इससे धव्वा लगता है। गलत लिखनेवालेका यज्ञ ईश्वरकी बहीमे तो लिखा ही नही जाता। हमारी

[1] अटेरनपर लपेटे हुए ४८ इच सूतकी नाप

वहीमे जो तार या गज लिखे गए हो उनकी कीमत तो कुछ भी नही। कीमत तो जो हो वही सच्ची है, लिखनेसे उसमे घट-बढ नही होती और सूतकी कीमत तो कुछ आने ही होती है। असली कीमत तो कातनेके पीछे रहनेवाले शुद्ध उद्देश्यकी ही है। यह कीमत हम आक सकते ही नही। यह तो दैवी वहीमे ही हो सकती है, क्योकि मनुष्यके हेतुको कौन समझ सकता है? फिर भी हमारे पास एक माप है। अगर अतमे ऐसे यज्ञका सोचा हुआ फल न हो तो जानना चाहिए कि हममे कही-न-कही मलिनता है। इस दृष्टिसे हरएक अपने-अपने कामका विचार कर ले और असत्य कहा हो तो नम्रतापूर्वक इसे कबूलकर शुद्ध हो जाय। आश्रममे हमसे किसीकी छिपी निगरानी नही हो सकती। बहुत-सा काम विश्वासपर ही चलता है। आश्रम दूसरी रीतिसे चल भी नही सकता। इसलिए सबको अपने धर्मका बुद्धिपूर्वक पालन करना है। गलत तारके साथ-साथ दूसरे दोष भी सब विचार ले। कातनेमे आलस किया था? बेगार टाली थी? वक्त चुराया था? टूटा हुआ सूत फेक दिया था? यज्ञकी शर्त यह है कि याज्ञिक उसमे तन्मय हो जाय, कार्यमे अपनी सारी होशियारी खर्च करदे।

कोई यह न सोचे कि पूरे वरस चाहे जैसे व्यवहार कर शुद्धि-सप्ताहमें ऊपरके नियमका पालन कर लेंगे। इतना याद रखना चाहिए कि आश्रम-जीवन ही यज्ञ-रूप होना चाहिए। उसमें कातना महायज्ञ है। सप्ताहमें इतना ही अंतर है कि उस वक्त हम कातनेमें अधिक समय दिया करते हैं।

आगेके लिए मैं ये नियम सुझाता हूं :

१ बीस नबरसे नीचेका सूत काता जाय तो वह यज्ञमें न गिना जाय।

२ सूतकी खराबी नियत मापसे अधिक हो तो काता हुआ यज्ञ न माना जाय।

३. कस—मजबूती नियत सीमासे नीचे आए तो भी यज्ञ न गिना जाय।

यज्ञकार्य हो कि दूसरा कोई, सख्या या वजनसे सफाई, सचाईकी कीमत ज्यादा होगी। पचास अपग बैल हमारे सिरपर बोझ होंगे, एक मजबूत बैल हमारा पूरा काम कर देगा। पचास भोथरी छुरियां शाक नहीं काट सकती। एक धारदार छुरी पूरा काम कर देगी। इसलिए हमें अपना ध्यान हर कामकी पूर्णताकी ओर देनेकी आदत डालनी चाहिए। आनेवाले सप्ताहमें हम इस चीजपर ही ध्यान दें।

मै देखता हूं कि कातनेमे कुछ लोगोका मन ऊवता है। दूसरे काम वे ज्यादा पसद करते है। इसमे एक तो स्वाभाविक त्रुटि है। आदमीको जो काम रोज करना पडता है उससे वह ऊवता है और मनको फुसलाता है कि कोई दूसरा काम होता तो मै न ऊवता। पर वह दूसरा काम भी अगर रोजका हो जाता है तो वह तीसरा मागता है। फिर कातनेवालेका ध्यान जाने-वेजाने कताईसे मिलनेवाली थोडी मजदूरीकी ओर जाता है। आश्रमकी दृष्टिसे यह दोप है। कातनेकी मजदूरी कम-से-कम रखी जाती है। कारण यह कि इस वक्त तो यही एक धधा है जिसे करोड़ो कर सके और उससे कुछ कमा भी ले। अत इस कामको व्यापक करनेके लिए हम सव यज्ञरूपमे कातते है। यज्ञमे कल्पना यह है कि हम ईश्वरार्पण वुद्धिसे काम करते है और फल देना भगवानके हाथ है। इस रहस्यको समभकर कातनेका यज्ञ सवको नित्य उसमे तन्मय होकर करना उचित है।

: ७ :

सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता

यरवदा-मंदिर
९–५–३२

धीरू मगन चरखा लाया। उसपर आज मुझे इतना आरंभिक काबू मिल गया कि मुझे संतोष हो। अब मुझे विनोद सूझा। वल्लभभाईकी तीखी आंखोंने तो उसके ऊपर लगा हुआ मकडीका एक जाला देख लिया और उन्होंने तुरंत उसका मजाक किया। मणिबहनके अति सुघडपनका मूल मुझे यही मिला। जिस लिफाफेमें मैं आश्रमकी डाक बंद किया करता हूं वह सरदारकी हुनरमन्दीका एक नमूना है। जिसने इस लिफाफेको न देखा हो वह देख ले। उसमें सुघडपनके साथ भारी किफायतशारी है। यह बता देना चाहिए कि यहांकी डाकके लिए बहुत लंबे लिफाफेकी जरूरत नहीं होती, इसलिए एकके दो हो जाते हैं। जो बादामी कागज पुडियों आदिमें आता है वह रख लिया जाता है। उससे लिफाफोंके लिए कागज निकल आता है।

यह तो हुई प्रस्तावना। वल्लभभाईकी आलोचनापर मैंने ध्यान दिया, पर मैं इस चरखेसे काम लेनेके

लिए अधीर हो रहा था। डाक्टर कहा ही करते थे कि वाए हाथसे चरखेका चक्र भी न घुमाओ। उसे पावसे चलाऊं तो चरखेका एक दिन भी शायद खराब न हो। अत उसपर जल्दी काबू पा लेनेकी धुनमे मैंने जालेकी तह चढी रहने दी । आज दाहिने हाथसे काम कर सकनेकी हिम्मत हुई तो चरखेकी खराबीके ऊपर निगाह गई। एकके वजाय सात जगह जाला देखा। धूल तो जमी ही थी। पीतलके मोढियेपर तेल और धूलका मरहम-जैसा कीट जम रहा था। पिढईपर भी खासा मैल था। यह अक्षन्तव्य माना जाना चाहिए। चरखा दरिद्रनारायणका चक्र है, उनकी पूजा-की यह मुख्य सामग्री है। उसपर मैल चढाकर हम दरिद्रनारायणका अनादर करते है। सामान्य रीतिसे मदिर, मस्जिद, गिरजा आदि स्थानोकी सफाई रखी जाती है। हम तो मानते है कि हरएक स्थान मदिर है। एक भी कोना नही है जहा ईश्वर न हो। इसलिए हमारे मतमे तो शयनगृह, भोजनगृह, पुस्तकालय, पाखाना सभी मदिर है और मदिरकी तरह साफ-सुथरे रहने चाहिए। तब फिर चरखेका तो कहना ही क्या ! चरखेकी शक्तिको हम सचमुच ही मानते हो तो बच्चेसे लगाकर बूढेतक कोई भी उसे साफ रखे बिना न रहे।

बिल्लीकी सफाईके बारेमे तो मै लिख ही चुका हू । इस वक्त उसका अधिक अवलोकन हुआ है। कोई डेढ महीने पहले उसने दो बच्चे जने । उनकी रहन-सहन अलौकिक लगती है । तीनो शायद ही कभी अलग देखनेमे आते हो । जब बच्चे चाहते है तब मा दूध पिलाती है । दोनो साथ-साथ सटकर दौडते है, यह दृश्य भव्य होता है । माको इसमे कोई शर्म नही लगती । बिल्ली सारे काम सबके सामने या सब जगह नही करती । बच्चे चलने-फिरने और खेलनेवाले हुए कि माने तुरत उन्हे शौचका नियम सिखाया । खुद एकातमे जाकर नरम जमीन पजोसे खोदकर गढा किया और बच्चोको उसके ऊपर बैठाया, फिर धूलसे मैलेको ठीक तौरसे ढककर जमीन जैसी थी वैसी कर दी । अब बच्चे रोज इसी रीतिसे निबटते है । वे भाई-बहन है । चार दिन पहले उनमेसे एक जमीन खोदने लगा, पर वह कठिन थी । दूसरा मददको पहुचा और दोनोने मिलकर जैसा चाहिए था वैसा गढा खोद लिया । शौच हो लेनेके बाद जमीन ढाककर चलते बने । ऐसे प्राणी—छोटे-बडे—जो कर सकते है वह हम सहज ही क्यो न करे ?

शीर्षकमे चार शब्द एक ही भावको प्रकट करनेके

लिए व्यवहार किये गए है। हमे आत्माका बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनोकी होनी चाहिए। पर अदरकी सफाई तो सचाई है। सचाई ही सबसे बडी पवित्रता, इसलिए, स्वच्छता है। हम बाहरसे साफ-सुथरे हो और अतर मैला हो तो या तो यह आडबरमात्र है, या दभ है, विषयभोगकी निशानी है। इसलिए सयमी स्त्री-पुरुषोकी स्वच्छता अतरकी पवित्रताका लक्षणरूप ही हो तो कामकी है।

हमारा शरीर हमारा महामदिर है। हम उसमे बाहरसे कोई मैल न भरे। अदर मनको कुविचारोसे मलिन न करे। इस शौचको साधनेवाला अपने हरएक काममे स्वच्छता प्रकट करेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

: ८ :

अद्भुत त्याग

यरवदा-मदिर
१५-५-३२

अक्सर सामान्य पाठ्यपुस्तकोसे हमे अचूक उपदेश मिल जाते है। इन दिनो मै उर्दूकी रीडरे पढ

रहा हू । उनमे कोई-कोई पाठ बहुत सुदर दिखाई देते है। ऐसे एक पाठका असर मुझपर तो भरपूर हुआ है। दूसरोपर भी वैसा ही हो सकता है। अत उसका सार यहा दिए देता हू।

पैगबर साहबके देहातके बाद कुछ ही बरसोमे अरबो और रूमियो (रोमनो) के बीच महासग्राम हुआ। उसमे दोनो पक्षके हजारो योद्धा खेत रहे, बहुतसे जख्मी भी हुए। शाम होनेपर आमतौरसे लडाई भी बद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लडाई बद हुई तब अरब-सेनामे एक अरब अपने चाचाके बेटेको ढूढने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाए और जिदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानीके लिए तडप रहा हो, यह सोचकर इस भाईने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तडपते घायल सिपाहियोके बीच वह लालटेन लिए देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानीकी रट लग रही थी। जख्मोसे खून बह रहा था। उसके बचनेकी आशा थोडी ही थी। भाईने पानीका लोटा उसके पास रख दिया। इतनेमे किसी दूसरे घायलकी 'पानी-पानी'की पुकार सुनाई दी। अत उस दयालु सिपाहीने अपने भाईसे

कहा, "पहले उस घायलको पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओरसे आवाज आ रही थी उस ओर यह भाई तेजीसे कदम बढाकर पहुचा।

यह जख्मी बहुत बडा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीनेको ही था कि इतनेमे तीसरी दिशासे पानीकी पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाहीके बराबर ही परोपकारी था। अत बडी कठिनाईसे कुछ बोलकर और कुछ इशारेसे समझाया कि पहले जहासे पुकार आई है वहां जाकर पानी पिला आओ। नि श्वास छोडते हुए यह भाई वायुवेगसे दौडकर जहासे आर्त्तनाद आ रहा था वहा पहुंचा। इतनेमे इस घायल सिपाहीने आखिरी सास ले ली और आंखे मूद ली। उसे पानी न मिला। अत यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहा पडा था वहा झटपट पहुचा, पर देखता है तो उसकी आखें भी तब-तक मुद चुकी थी। दुखभरे हृदयसे खुदाकी बदगी करता हुआ वह अपने भाईके पास पहुचा तो उसकी नाड़ी भी बंद पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यो तीन घायलोमे किसीने भी पानी न पाया; पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गए। इतिहासके पन्नोमे ऐसे निर्मल त्यागके दृष्टांत तो

वहुतेरे मिलते है। उनका वर्णन जोरदार कलमसे किया गया हो तो उसे पढकर हम दो बूद आसू भी गिरा देते है, पर ऊपर जो अद्भुत दृष्टात लिखा गया है उसके देनेका हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषोके जैसा त्याग हममे भी आए और जव हमारी परीक्षाका समय आए तव दूसरेको पानी पिलाकर पिये, दूसरेको जिलाकर जिये और दूसरेको जिलानेमे खुद मरना पडे तो हँसते चेहरेसे कूच कर जाय।

मुझे ऐसा जान पडता है कि पानीकी परीक्षासे कठिनतर परीक्षा एकमात्र हवाकी है। हवाके विना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। इसीसे सपूर्ण जगत हवासे घिरा हुआ जान पडता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जव आल-मारी-जैसी कोठरीके अदर वहुतसे आदमी ठूस दिये गए हो, एक ही सूराखसे थोडी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, वाकी लोग दम घुटकर मर जाय। हम भगवानसे प्रार्थना करे कि ऐसा समय आए तो हम हवाको जाने दे।

हवासे दूसरे नवरपर पानीकी आवश्यकता —प्यास है। पानीके प्यालेके लिए मनुष्योके एक दूसरेसे लडने—झगडनेकी वात सुननेमे आई है। हम

यह इच्छा करे कि ऐसे मौकेपर उक्त वहादुर अरवो-का त्याग हममे आए, पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एकको ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सवकी रोज हुआ करती है। हम सवको अपने आपसे पूछना चाहिए——जव-जव वैसा अवसर आता है तव-तव क्या हम अपने साथियो, पडोसियोको आगे करके खुद पीछे रहते है ? न रहते हो तो हम नापाक हुए, अहिसाका पहला पाठ हमे नही आता।

: ६ :

बिल्ली-शिक्षिका

यरवदा-मदिर
२२—५—३२

यहाकी बिल्लीकी सफाई-पसदीके वारेमे तो मै लिख चुका हू। उसको और उसके बच्चोको देखकर मुझे ऐसा दिखाई देता है कि बिल्ली आदर्श शिक्षिका है। बिल्लीके वच्चोको जो कुछ सीखना चाहिए वह यह माता विना किसी उपद्रवके और बिना मुहसे एक शब्द बोले सिखा देती है। रीति निहायत आसान है। वह जो सिखाना चाहती है उसे खुद उनके देखते

कर दिखाती है। बच्चे तुरत उसे करने लग जाते है। इस रीतिसे वे दौडना, पेडपर चढना, सम्हालकर उतरना, शिकार करना, अपने शरीरको चाटकर साफ कर लेना सीख गए। मा जितना जानती है उतना बच्चे देखते-देखते सीख गए है।

मा बच्चोको अक्सर बेकार भटकनेके लिए छोडती नही। उसका प्रेम मनुष्यके प्रेम-जैसा ही दिखाई देता है। वह बच्चोको बगलमे लेकर सोती है। जब वे दूध पीना चाहते है तब खुद लेट जाती है और उन्हे दूध पीने देती है। कोई शिकार किया हो तो उसे बच्चोके पास ले आती है। वल्लभभाई रोज इनको दूध पिलाते है। छोटी-सी रकाबीमे तीनो दूध पीते है। अक्सर मा देखा करती ह, पर खुद उसमे हिस्सा नही बटाती। वह बच्चोके साथ बच्चोकी तरह क्रीडा करती है, कुश्ती लडती है।

इससे मैने यह सार निकाला कि हम बच्चोको शिक्षा देना चाहते है तो जो बात उनसे कराना चाहते हो वह खुद करनी चाहिए। बच्चोमे अनुकरणकी भारी शक्ति होती है। मुहसे कहा हुआ वे कम समझेगे। हम उन्हे सत्य सिखाना चाहते हो तो खुद

हमे बहुत सावधानीसे सत्यका पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना हो तो हमे परिग्रह त्याग देना होगा। जो बात नीतिके विषयमे है वही शारीरिक कार्योंके विषयमे भी है।

इस रीतिसे विचार करते हुए हम तुरत देख सकते है कि आज जिस रीतिसे शिक्षा दी जाती है उसमे पैसे और मनुयके व्ययके परिमाणमे फल नगण्य मिलता है। फिर हम यह भी देख सकते है कि बडी उम्रको पहुचे हुए सभी आदमी शिक्षक के स्थान पर है। इस स्थानके साथ न्याय नही होता। इसका उचित आदर नही किया जाता। इससे शिक्षाने वक्ररूप धारण कर लिया है।

बिल्ली आदि पशुओको बुद्धि नही है या मनुष्यकी जैसी बुद्धि नही है। वे जो करते है उससे तो हमे बहुत आगे जाना चाहिए, पर इसके शक्य होनेके पहले भावी सतानकी नीतिके रक्षक होनेके नाते, हमे खुद उसका पालन करना होगा। जिस बातको हम चाहते हो कि आनेवाली सताने सीखे उसे खुद भी यथाशक्ति सीखना चाहिए।

आश्रममे जो लोग शिक्षक और शिक्षिका है वे इस दृष्टिसे विचार करने लगे और जहा अमल

करना उचित हो वहा करने लगे, इसी उद्देश्यसे यह लेख लिखा है।

: १० :

मृत्युका बोध

यरवदा-मदिर
३०-५-३२

आश्रममे अबतक नीचे लिखी मौते होनेकी बात मुझे याद है फकीरी, व्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसत, इमाम साहब, गगादेवी (इन सबकी तारीखे लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरीकी मौत तो ऐसी हुई जो आश्रमको शोभा देनेवाली नही कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरीपर आश्रमके सस्कार न पडे थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपनकी बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगलमे सारी रात मै ही बैठा रहा। सवेरे मुझे गुरुकुल जानेके लिए ट्रेन पकडनी थी। उसे अरथीपर सुलाकर, पत्थरका कलेजा करके

मैंने स्टेशनका रास्ता लिया । फकीरीके बापने फकीरी और उसके तीन भाइयोको यह समझकर मुझे सौपा था कि मै फकीरी और दूसरोके बीच भेद न करूगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयोको भी मैं खो बैठा ।

व्रजलाल बडी उम्र मे, शुद्ध सेवाभावसे आश्रममे आए थे और सेवा करते हुए ही मृत्युका आलिगन करके अमर हो गए और आश्रमके लिए शोभारूप हुए। एक लडकेका घडा कुएसे निकालते हुए डोरमें फँसकर फिसल गए और प्राण तजे ।

गीता गीताका पाठ शातिसे सुनती हुई चली गई । मेघजी नटखट लडका माना जाता था, पर बीमारीमें उसने अद्भुत शांति रखी । बच्चे अक्सर बीमारीमें बहुत हैरान होते है और पास रहनेवालोंको हैरान करते है । मेघजीको लगभग आदर्श रोगी कह सकते है । वसतने बिलकुल सेवा ली ही नही । प्राणघातक चेचकने एक या दो दिनमे ही जान ले ली । वसतकी मृत्यु पडितजी और लक्ष्मीबहनकी कठिन परीक्षा थी, उसमे वे पास हुए ।

मगनलालके विषयमे क्या कहू ? सच पूछिए तो यह गिनती आश्रममें हुई मौतोकी है, इसलिए

मगनलालका नाम यहा न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोडा जा सकता है? उन्होने आश्रमके लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्निमे तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्निमे तपे और कसौटीपर सौ फीसदी खरे उतरकर दुनियासे कूच कर गए। आश्रममें जो कोई भी है वह मगनलालकी सेवाकी गवाही देता है।

इमाम साहबका अकेला ही मुसलमान-कुटुंब अनन्य भक्तिसे आश्रममे बसा। उन्होने मृत्युसे हमारे और मुसलमानोके बीच न टूटनेवाली गाठ बाध दी है। इमाम साहब अपने आपको इसलामका प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूपमे आश्रममे आए। (यहा अमीनाके दो बच्चे याद आते है। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारेमे कोई कहने लायक बात नही। उनकी मृत्यु हमे सयमकी आवश्यकताका पाठ अवश्य पढाती है।)

गगादेवीका चेहरा अब भी मेरी आखोके सामने फिरा करता है, उनकी बोलीकी भनक मेरे कानोमें पडती है। उनके स्मरणोको याद करते अब भी मैं थका नही। उनके जीवनसे हम सबको और बहनोको खास तौरसे बहुत सबक सीखने है। वह लगभग

निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थी । हवा, पानी बदलनेके लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छासे जानेसे अन्ततक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थी। जो बच्चे उन्हे मिले उनकी सम्हाल उन्होने अपने बच्चे मानकर की। उन्होने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हो, इसकी जानकारी मुझे नही है। उनको जीनेका उल्लास न था, मरनेका भय न था—उन्होंने हँसते हुए मृत्युको गले लगाया। उन्होने मरनेकी कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीनेकी कला है, वैसे ही मरनेकी भी कला है।

इन सभी मृत्युओका स्मरण अपनी जागृतिके लिए कर गया हूं। पृथ्वी इस विश्व-मंडलमे कण-समान है। उस कणके ऊपर हम देहरूपमे तुच्छ कण हे। हम एक बिलमें रहनेवाली चीटियोंको गिननेमे असमर्थ है। चीटीसे छोटे जंतुओंको तो हम देख भी नही सकते। विराट पुरुषके सामने तो हम अदृश्य जतुसे भी अधिक छोटे है। इससे इस देहको जो क्षण-भगुर कहा है वह अक्षरश. सत्य है। उसका मोह क्या? उसके लिए एक भी प्राणीको हम क्यो दु.ख दें? कांचसे भी कमजोर—जरा-सी चोटसे टूट जानेवाली—

देहको बनाए रखनेके लिए इतना उपद्रव क्यो मचाए ? मौतके मानी है इस देहसे जीवका उड़ जाना। इस मौतका डर किस लिए ? उसका क्षण दूर रखनेके लिए यह महा-प्रपच क्यो ? इन बातोपर फिर-फिर विचारकर छोटे-बड़े सब दिलसे मौतका डर निकाल दे और देहमे रहकर, जबतक वह रहे तबतक, सेवाके कार्यमे उसे घिस डाले। ऐसी तैयारी करनेकी शक्ति हममे आए, इसके लिए नित्य गीताके दूसरे अध्यायके अतिम उन्नीस श्लोक हमे रटने चाहिए। उनकी रटन दिलसे हो तो जो चाहिए वह उसमे मौजूद है।

पुनश्च—यह लेख लिखा जा चुकनेके बाद महादेवने फातिमाकाकी और बालजीकी माताजीके सस्मरण दिए है, पर मुझे जो सार खीचना था उसमे कोई फर्क नही पडता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हू। बाकीकी तीनो मौतोके बारेमे जो कुछ मैने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।

: ११ :

तितिक्षा और यज्ञके विषयमें

यरवदा-मंदिर
९—६—३२

कोढसे पीड़ित एक भाईने नीचे लिखे हुए उद्-गार प्रकट किये हैं—

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियोंके लिए आसन, प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करनेके बाद प्राप्त किया हुआ अन्न इस रोगके लिए अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादिके पाठमें, भजन गानेमें, ध्यानमें और कम-से-कम ५०० गज सूत कातनेमें मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षाका अर्थ तो यह है—"सब दुखोंको मनमें बिना विरोध किये, बिना चिंता किये, बिना कलपे सहन करना।" यह सहन-शक्ति अपने आपमें उत्पन्न कर रहा हूं और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञकार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमीसे दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वरकृपासे खुले हुए हैं और इनसे आनंद प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढा रहा हूं। पर अक्सर मनमें यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ बिलकुल हो ही न सके तो? शास्त्र तो पुकार-पुकारकर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है, और जगतके लिए त्रास उपजानेवाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य

व्याधिसे इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकारका यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरोकी सेवापर ही टिक रहा हो, तो ऐसे समय क्या कर्त्तव्य है ? किसी-किसी शास्त्रमे यह भी पढा है कि जब आदमीको ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानीमे डूबकर या ऐसे ही किसी और उपायसे प्राणत्याग करे।"

यह एक सुदर पत्रका मेरी भाषामे किया हुआ खुलासा है। इस पत्रसे अपने लोगोके लिए तो मै इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाईने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपनेमे उत्पन्न करे और रोगसे पीडित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहे। सहनशक्ति बढाना और यज्ञ करना दोनो बाते बहुत पुरानी है। आश्रममे तो पद-पदपर हम इन्हे सुनते है, पर जब किसी अनुभवीकी कलमसे यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमे खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढसे पीडित जनोसे ऐसी भाषा और ऐसे अनुभवकी आशा हम नही रखते। आम तौरसे ऐसे लोग अगर लिखते है तो अपना दुखडा रोते हुए दिखाई देते है। यहा हमे एक निराली ही चीजका अनुभव हुआ है। इसीसे इस पत्रका सार मैने आश्रमवासियोके लिए लिख दिया है। इसमे जो शका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञका अर्थ हम परोपकारके लिए मन देकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं; पर इससे यह मान लेना जरूरी नही है कि जो शरीरसे अशक्त है वह यज्ञहीन है। जो शरीरसे सर्वथा अशक्त है वह अपने मानसिक बलसे अनेक प्रकारकी सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थितिकी कल्पना की जा सकती है जहा अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके; वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञकर्म करनेकी तीव्र इच्छा हो। देहके विषयमे उदासीनता आ गई हो, दूसरोंकी सेवा लेनेसे दुःख होता हो, बीमारी प्राण-घातक है, इसका अपने आपको इतमीनान हो गया हो। मेरा खयाल है कि ऐसी हालतमें जिसमे ऐसी शक्ति हो उसको प्राणत्याग करनेका पूर्ण अधिकार है, धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवालेको आघात पहुंचानेवाला वाक्य समझा जायगा। जीनेवालेके मुहमे दूसरेके लिए प्राणत्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना संभव नही; जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख

डाला है। अगणित उपाय करके और असीम सेवा लेकर भी जीनेकी तृष्णा घट जाय और मृत्युका भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है, यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोगके समय प्राणत्यागको धर्म माने तो यह माननेके लिए कोई कारण नही कि वह गलत ही कर रहा है।

: १२ :

प्रार्थना

यरवदा-मदिर
१९–६–३२

प्रार्थना आश्रमका एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीजको हमे ठीक तौरसे समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिए। भोजन करते समय आम-तौरसे हम किसीको सोता हुआ नही देखते। प्रार्थना भोजनसे करोड गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोए तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्यको भारी दुख होना चाहिए। खाना छूटे, पर प्रार्थना न छूटे।

खाना छोडना कितनी ही वार शरीरके लिए लाभ-दायक होता है। प्रार्थनाका छूट जाना कभी लाभ-दायक हो ही नही सकता।

पर जो आदमी प्रार्थनामे सोता हो, आलस्य करता हो, वाते करता हो, ध्यान न रखता हो, विचारको जहा-तहा भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीरसे हाजिरी दी उसकी गिनती दभमे होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोप किया, प्रार्थना छोडी और समाजको ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रतका भग।

पर हमारे न चाहनेपर भी नीद आए; आलस्य लगे तो क्या करना होगा ? ऐसी वात होती ही नही। अगर हम खाटसे उठकर सीधे प्रार्थनामे जायं तब तो वहा ऊघेगे ही। प्रार्थनामे जानेके पहले जाग्रत हो जाने दातुन करने और ताजा रहनेका निश्चय करना चाहिए। प्रार्थनामे एक दूसरेसे सटकर न वैठना चाहिए। सोटेकी तरह सीधा वैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊची आवाजसे, नही तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढा-गाया जा रहा हो उसे वोलना चाहिए।

यह भी न आए तो रामनाम ले। इतनेपर भी शरीर काबूमे न रहे तो खडा हो जाय। छोटा हो या वडा, इसमे किसीको लजाना न चाहिए। शर्म मिटानेके लिए, वडोको चाहिए, कि खुद ऊघते न हो तो भी, जब-तब खडे हो जाया करे।

प्रार्थनामे जो कुछ कहा जाय उसे तुरत सबको समझ लेना चाहिए। सस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

: १३ :

अहिंसाका पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर
२५-६-३२

सर्पको मारे या नही ? स्त्रीके ऊपर वलात्कार हो रहा हो तव आक्रमणकारीको मारे या नही ? खेतमे जीव मरते है यह जानते हुए भी हल चलाए या नही ? अहिसाका उपासक इन प्रश्नोको हल करनेमे न लगे। इन गुत्थियोको जव सुलझाना होगा तव वे अपने आप सुलझ जायगी, इस भुलावेमे पडना अहिसाको बिसर जानेके वरावर है।

अहिंसाके पालनका जिसको उत्साह हो वह अपने अंतरमें और अपने पड़ोसियोंको देखे। अगर उसके मनमें द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसाकी पहली सीढीपर भी नहीं चढा। अपने पड़ोसी, साथीके साथ वह अहिंसाका पालन न करता हो तो वह अहिंसासे हजारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथीका तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली? उसे कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली? अपने काममें चोरी करके साथीके ऊपर बोझ डाला? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया, प्यासे बटोहियोंने मुझसे पानी मांगा, मैंने न दिया। मेहमान आए उनका नमस्कारसे भी सत्कार न किया, मजदूरका तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना विचारे काम लादता रहा; बैलको पैना मारता रहा। रसोईमें भात कच्चा था इससे खीझा——ये सारी बातें भारी हिंसा है। इस तरह नित्यके व्यवहारमें हम स्वाभाविक रीतिसे अहिंसाका पालन न करें तो दूसरे विषयोंमें हम अहिंसाका पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातोंमें उसका पालन करते हों तो

उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी। अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षणके कार्यमे, प्रतिक्षणके विचारमे हो रही है। जो कौडीकी फिक्र करेगा उसकी कोडी सलामत ही है, पर जिसने कौडीकी परवा नही की उसनें कौडी भी खोई और कोडी तो उसकी थी ही नही।

: १४ :

सत्यका पालन कैसे हो ?

यरवडा-मंदिर
३-७-३२

जो बात अहिसाकी है वही सत्यकी समझिए। गायको बचानेके लिए झूठ बोला जा सकता है या नही, इस उलझनमे पडकर अपनी नजरके नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्यकी साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानीमे बैठना सत्यको ढांकनेका रास्ता है। तत्काल जो समस्याए रोज हमारे सामने आकर खडी हो रही है उनमें हम सत्यका पालन करे तो कठिन अवसरोपर

क्या करना होगा इसका ज्ञान हमे अपने आप हो जायगा।

इस दृष्टिसे हममेसे हरएकको केवल अपने आपको ही देखना है। अपने विचारसे मै किसीको ठगता हू ? अगर मै 'व'को खराब मानता हू और उसको बताता हू कि वह अच्छा है तो मै उसे ठगता हू। बडा या भला कहलानेकी इच्छासे जो गुण मुझमे नही है उन्हे दिखानेकी कोशिश करता हू ? बोलनेमे अतिशयोक्ति करता हूं ? किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाबमे वातको उडा देता हू ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं ? इनमेसे कुछ भी करते है तो हम असत्यका आचरण करते है, यो हरएकको रोज अपने आपसे हिसाब लेकर अपने आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच्च बोलनेकी ही आदत पड गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुहसे निकल ही न सके, वह भले ही अपने आपसे रोज हिसाब न मागे, पर जिसमे लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्यका आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीतिसे यही या इस तरहके जितने सूझे उतने सवालोंका

जवाब रोज अपने आपको देना चाहिए। यो जो एक महीना भी करेगा उसे अपने आपमे हुआ परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

: १५ :

विद्याभ्यास

यरवदा-मदिर
१०-७-३२

आश्रमका इतिहास लिखते हुए शिक्षाके विषयमे जो विचार प्रधान रूपसे मेरे मनमे चल रहे है उनका निचोड दिये देता हू। आश्रममे कितने लोगोको वाचन शिक्षण--पढाईकी तालीम---की कमी दिखाई देती है। मै भी इस कमीको देख सकता हू, पर शायद वह आश्रमके साथ जुडी ही रहेगी। उसके कारणकी चर्चा तत्काल न करूगा।

यह कमी हमे इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यासका अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करनेकी रीति नही जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टिसे प्रचलित विद्याभ्यास और उसे

करने-करानेकी रीतिमे वहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्माको, अपने आपको, ईश्वरको, सत्यको पहचाने। इस पहचानके लिए किसीको साहित्यज्ञानकी आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्रकी, किसीको कलाकी; पर विद्यामात्रका उद्देश्य आत्मदर्शन होना चाहिए। आश्रममे यह है। उसकी दृष्टिसे हम अनेक उद्योग चला रहे है। ये सारे उद्योग मेरे अर्थमे शुद्ध विद्याभ्यास है। आत्म-दर्शनके उद्देश्यके बिना भी यही धंधे चल सकते है। इस रीतिसे चलें तो वे आजीविकाके या दूसरे साधन हो सकते है, पर विद्याभ्यास न होंगे। विद्याभ्यासके पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है। जहा समझ हो वहा बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे-से-छोटा काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझनेका प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर कामका होता है। खाना पकानेका, सफाईका, बढ़ईके कामका, कताईका, जो हरएक उद्योग विद्यार्थीकी दृष्टिसे चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरएक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह

जानेगा कि आश्रम एक महान् पाठशाला है, जिसमे शिक्षाके लिए कोई खास समय ही हो सो बात नही है, बल्कि सारा समय शिक्षण काल है। हर आदमी, जो आत्म-दर्शन—सत्य-दर्शन—के भावसे आश्रममे बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीजमे वह निपुण है उसके विषयमे वह शिक्षक है, जो उसको सीखना है, उसके विषयमे विद्यार्थी है। जिस 'विषयका हमे अपने पडोसीकी अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पडोसीको बिना किसी सकोचके देते हो रहे और जिसमे पडोसीको अधिक ज्ञान हो उसमे उससे बिना सकोचके लेते रहे। हम ऐसा किया करे तो हमे शिक्षकोका टोटा न पडे और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बडी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यो-ज्यो हम यम-नियमोके पालनमे बढते जाय त्यो-त्यो हमारी विद्या—सत्य-दर्शनकी शक्ति—बढती ही जायगी।

तब अक्षरज्ञानका क्या हो? यह प्रश्न अब रहता ही नही। जो बात अन्य कार्योके विषयमे है वही अक्षरज्ञानके विषयमे है। ऊपरके विवेचनसे एक वहमकी अर्थात् शिक्षाशाला रूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षकके—भ्रमकी जड कट जाती है। हमे

अक्षरज्ञानकी जिज्ञासा हो तो हमे जानना चाहिए कि वह हमे अपने ही यत्नसे प्राप्त करना है। आश्रममें उसके लिए अवकाश है ही। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उसे ठीक तौरसे समझा सका होऊं तो अक्षर-ज्ञानकी समस्या हल हो जाती है। जिसके पास वह है वह दूसरोको यथासमय दिये जायं और दूसरे लेते जायं।

: १६ :

व्यक्तिगत प्रार्थना

यरवदा-मंदिर
१७-७-३२

व्यक्तिगत प्रार्थनाके विषयमे मैं कुछ लिख तो चुका हूं, पर उसके महत्वके विषयमे फिर कुछ लिखनेकी आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पडता है कि सामाजिक प्रार्थनामे जो रस पैदा नही होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थनाकी आवश्यकताका अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थनाकी व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थनामेसे ही हुई है। व्यक्तिको प्रार्थनाकी भूख न हो तो समाजको कहासे हो सकती है ? सामाजिक

प्रार्थनाका उपयोग भी व्यक्तिके लाभके लिए है। व्यक्तिके आत्म-दर्शनमे---आत्मशुद्धिमे---सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थनाका मूल्य सबको समझ लेना चाहिए, बच्चा ज्यो ही समझने लगे, माताको चाहिए कि तुरत उसे प्रार्थना सिखा ही दे। सब धर्मोमे यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थनाके दो समय तो पक्के है सवेरे उठते ही अन्तर्यामीको याद करना और रातमे आख मूदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जाग्रत स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रियाके सपादनमे अन्तर्यामीको याद करेगा और साक्षी रखेगा। ऐसा करनेवालेसे बुरा काम तो होगा ही नही और अतमे उसकी ऐसी आदत पड जायगी कि हर विचारका ईश्वरको साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा, यह शून्यवत हो जानेकी स्थिति है, यो जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है उसके हृदयमे निरतर राम बसते है।

ऐसी प्रार्थनाके लिए खास मत्र या भजनकी जरूरत नही होती। यद्यपि प्रत्येक क्रियाके आरभ और अतके लिए मत्र देखनेमे आते है, पर उनकी आवश्यकता नही है। चाहे जिस नामसे, चाहे जिस रीतिसे, चाहे जिस स्थितिमे भगवानको याद करना

है। ऐसा करनेकी आदत बहुत थोड़ोंको ही होती है। बहुतोंको हो तो दुनियामें पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपसका व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थितिको पहुंचनेके लिए हर आदमीको जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए, दूसरे वक्त भी खुद बाध ले और नित्य उसमें वृद्धि करते जायं, जिससे अतमें हर साससे राम-नाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थनामें वक्त बिलकुल नहीं जाता। उसमें वक्तकी जरूरत नहीं, सचेत रहनेकी जरूरत है। जैसे आंख मूदनेमें समय जाता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थनामें भी वह जाता नहीं मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं, वैसे ही प्रार्थना हृदयमें चलनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना करनेवालेको याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनताको बनाये रखकर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात् प्रार्थनाके समय उसको मलिनताका त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गंदा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वरके सामने भी गंदा, बुरा काम करते हुए उसे शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर

कामको देखता है, हर विचारको जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नही है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अतमे ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

: १७ :

देख-रेखकी अनावश्यकता

यरवदा-मदिर
२४-७-३२

यह शीर्षक चौकानेवाला है। इसका आशय यह सूचित करना नही है कि हम इसी वक्त बिना किसी देख-रेखके अपना काम-काज चला सकते है। हा, यह आशय अवश्य है कि देख-रेख घटाते जाने और अतमे उसको बिलकुल ही दूर कर देनेका उपाय सुझाए।

धार्मिक सस्थामे देख-रेखकी जितनी जरूरत पडे, उतनी धर्मकी न्यूनता है। उसके पीछे अविश्वास होता है। अविश्वास धर्मका—आत्माका—घातक है। ईश्वर सबको देखनेवाला है, फिर हमे किसकी देख-रेख

रखनी है ? जिसने रसोई या पाखानेकी सफाई अपने ऊपर ली हो वह अपने आप ठीक तौरसे अपना काम क्यो न करे ? करेगा यह विश्वास हम क्यो न रखे ? जो निगरानीके बिना लिया हुआ काम पूरा या ठीक न करे वह आश्रम छोड़ दे, यह सहन किया जा सकता है; पर निगरानी असह्य लगनी चाहिए । हमारे रोजके कामका आत्मपरीक्षण हमारी देखरेख है ।

यहा देख-रेखका अर्थ समझ लेना चाहिए । बच्चेको तो देख-रेख चाहिए ही। उसे करना आता नही, इसलिए सौपे हुए कामको बताना जरूरी होता है। बडा भी उसे कोई खास काम न आता हो तो देख-रेख मांगता है, चाहता है। सच पूछिए तो इस तरहकी देख-रेख नही, बल्कि शिक्षककी सहायता है। इस सहायताके सहारे नया सीखनेवाला आगे बढता है।

पर जो देख-रेख रखवालीके रूपमे है, वह दोष-पूर्ण है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तौरसे करता है या नही, इसकी निगरानी रखना बुरा है। बच्चोकी भी ऐसी निगरानी रखना बुरी बात है। इस बुराईसे निकल जानेका रास्ता हमे ढूंढना चाहिए।

इस तलाशकी पहली सीढ़ी यह है: जहां-जहां

देख-रेख रखी जाती हो उन कार्योंको नोट कर लो। उनमे कौन-कौन है यह देख लो। उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हे उनके विवेकपर छोड दो। संस्थापक और दूसरोको इसका पूरा भान होना चाहिए कि परमात्मा बहुत बडा साक्षी है। बच्चोको भी ईश्वर-की उपस्थितिका भान अभीसे होना चाहिए। यह कोई वहमकी चीज नही है, अनिश्चित नही है। अपने अस्तित्वपर अपने निजी अस्तित्वका जितना विश्वास हमे है, उतने ही विश्वासकी यह बात है।

इस सुझावपर सब लोग विचार करते रहे और उसपर जहातक अमल करना शक्य है वहातक करना अपना धर्म है।

: १८ :

गीता कंठ करो

यरवदा-मंदिर

३१-७-३२

गीताको कठ करनेके विषयमे मै बहुत बार लिख चुका हू, कह चुका हू। मेरे अपने लिए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नही देता। फिर भी

इस बातको बार-बार कहते मुझे शर्म नही मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मै समझता हू। मेरी गाडी ज्यो-त्यो चल गई है, क्योकि एक वार तो मै तेरहवे अध्यायतक कठ कर गया था और गीताका मनन तो बरसोसे चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छायाके नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया। पर मै उसे कठ कर सका होता, अब भी उसमे अधिक गहराईमे पैठ सका होता तो हो सकता है, मैने बहुत अधिक पाया होता। पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए, यद्यपि मुझे सहज ही इसका सयोग मिल जाय तो गीता कठ करनेका प्रयत्न आरभ कर दू।

यहा गीताका अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रथ। हममेसे बहुतोका आधार गीता है, इसलिए मैने गीताका नाम लिया है। पर अमतूल (अमतुस्सलाम), अमीना या कुरेशी गीताके बदले कुरानशरीफ पूरा या उसका कोई भाग कंठ कर सकते है। जिन्हे सस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हो वे गुजराती या हिंदीमे कंठ करे। जिन्हे गीतापर आस्था न हो और दूसरे

किसी धर्मग्रथपर हो वे उसे कठ करे।

और कठ करनेका अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीजको हम कठ करे उसके आदेशानुसार आचरण करनेका हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धातोका घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हो।

इसका फल है। हमारे पास ग्रथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमे भूल जाय, हमारी आख चली जाय, हम वाक्शक्तिसे रहित हो जाय, पर समझ वनी हो---ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते है---उस वक्त अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रथ कठ हो तो वह हमारे लिए भारी शाति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, सकटका साथी होगा।

दुनियाका अनुभव भी यही है। हमारे पुरखे---हिदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी---कुछ विशेष पाठ कठ किया करते थे। आज भी वहुतेरे करते है। इन सवके अमूल्य अनुभवको हम फेक न दे। इसमें कुछ अशोमे हमारी श्रद्धाकी परीक्षा है।

: १६ :

वाचन और विचार

१

यरवदा-मंदिर
१४-८-३२

पाठशालाओमे हम पढते है—'वाचन मिथ्या बिना विचार।'[१] यह उक्ति शब्दश सत्य है। हमे किताबे पढनेका शौक हो तो यह अच्छा कहा जायगा। आलस्यवश जो पढता नही, बाचता नही वह अवश्य मूढ माना जायगा, पर जो खाली-खाली पढा ही करता है, विचार नही करता, वह भी लगभग मूढ-जैसा ही रहता है। इस पढाईके एवजमे कितने ही आंख खो बैठते है, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकारका रोग है।

हममे बहुतेरे निरी पढाई करनेवाले होते है। वे पढते है, पर गुनते नही, विचारते नही। फलत. पढी हुई चीजपर अमल वे क्यों करने लगे ? इससे हमे चाहिए कि थोडा पढे, उसपर विचार करे और उसपर अमल करे। अमल करते वक्त जो ठीक

---

[१] 'भणतर मिथ्या वगर विचार।'

न जान पडे उसे छोड दे और आगे बढे । ऐसा करने वाला थोडी पढाईसे अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करनेकी जिम्मेदारी उठानेके योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढनेको हमेशा नही मिल सकता । यह देखनेमे आता है कि जिसे पढनेकी आदत पड गई हो उसे पढनेको न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करनेकी आदत पड़ जाय तो उसके पास विचारपोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अत उसे परेशानीमे नही पडना पडता ।

विचार करना 'सीखना', यह शब्दप्रयोग मैने जान-बूझकर किया है । सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते है। वह तो पागलपन है । कितने ही विचारोके भवरमे पडकर निराश हो जाते और आत्मघात भी कर बैठते है। ऐसे विचारकी बात यहा नही की जा रही है। इस समय तो मेरी सूचना पढे हुएपर विचार करनेतक है। मान लीजिए कि आज हमने एक भजन सुना या पढा, उसका विचार करना, उसमे क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नही लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमे

दोष हों तो उन्हे देखना, अर्थ न समझमे आया हो तो उसे समझना—यह विचार-पद्धति कही जायगी। यह मैंने सादे-से-सादा दृष्टात लिया है। इसमेसे हरएक अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार दूसरा दृष्टांत घटित कर ले और आगे बढे। ऐसा करनेवाला अतमे आत्मानद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

: २० :

वाचन और विचार

२

यरवदा-मंदिर
२१-८-३२

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है?"—अरे मुसाफिर, उठ। सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढा, पर विचार नही किया; क्योकि वह सवेरेके समय उठकर ही अपने आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने आपसे पूछता है—मुसाफिर यानी कौन? सवेरा हुआके मानी क्या हुए? रात गई,यानी?

सोना क्या है ? यो सोचे तो रोज एक पक्तिसे अनेक अर्थ निकाल ले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वरपर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रातके मानी आराम भी हो सकते है और जो जरा भी गाफिल---लापरवाह---रहता है उसपर यह पक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पक्ति उसे भी जगाने-वाली है। यो उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पक्तिका ध्यान मनुष्यके लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारो वेद कण्ठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवालेके लिए वह बोझरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबानपर चढी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जाय तो जीवनमे नया अर्थ निकालेगे और नित्य नया रस लूटेगे।

: २१ :

सविचार कार्य और विचाररहित कार्य

१

यरवदा-मंदिर
२८-८-३२

वाचन और विचारके विषयमे तो मै लिख चुका। आज कार्य और विचारके विषयमे थोडा लिखता हूं। मेरी दृष्टिसे विचार करनेकी कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुंदर रीतिसे सज जाय।

जिस स्त्रीने नेवलेके मुहमे लहू लगा देखकर उसपर अपना भरा घड़ा फोडा, उसने बहुत ही अविचारका काम किया और अतमे अपने बच्चेको बचानेवालेका वध करनेके लिए उसे बहुत पछताना पड़ा और इसका दाग जिदगीभर मिटा न सकी। घड़ा फूटा, पानी गया, यह तो हिसाबमे लेने लायक भी न समझा जायगा। इतना भारी अपराध उसने किया।

यह दृष्टांत तो अतिम कहा जा सकता है; पर हमारा ध्यान इससे मूलविषयपर ठीक बैठ सकता है। आश्रममे जितने काम हम करते है उतने विचार-

पूर्वक करे तो शाति बढे, करनेवालेकी दक्षता बढे, बहुत-सा वक्त बचे और काममे नित्य नया रस पैदा हो। हम जानवरके जरिए रहट चलाते है। जानवरको बडी मश्क्कत करनी पडती है, पर उसके ज्ञानमे वृद्धि नही होती, अपने काममे उसे रस नही आता। आदमी सिरपर सवार न हो तो जानवर रहटकी चर्खी घुमाए नही। पर हम तो मनुष्य है! मनुष्यके मानी है विचार करनेवाला, ज्ञानवान। हमे पशुकी भाति तो नही रहना या व्यवहार करना चाहिए।

हम पाखाना साफ करते है। विचारके बिना करे तो यह काम नीचा मालूम होगा, खराब लगेगा और मन यही चाहेगा कि उससे कब छूटे। विचार-पूर्वक करे तो जानेगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करनेके मानी है पूरी सफाई करना, पाखानेको ठीक तौरसे ढकना, साफ करनेके औजारोको साफ रखना, पाखानेकी जाच करना, उसमे खून हो, बदबू हो, कीडे हो तो समझे कि कोई बीमार है, और कौन है इसका पता लगा ले। हरएक पाखानेका कौन-कौन इस्तेमाल करता है इसका पता तो हमे होता ही है। पाखाना साफ करते वक्त मालूम हो कि वह धूलसे ठीक तौरसे ढका नही गया है, मैला बाहर पडा

है, पेशाब भी नीचे पड़ा है, तो यह दोष करनेवालेको ढूढ निकाले और उसको विनयपूर्वक समझावे। यह सब तो उसीसे हो सकता है जो सेवाभावसे इस कामको करता है। इसलिए ज्यो-ज्यो अपने कार्यमे विचारसे काम लेता जायगा त्यो-त्यो वह सुधरेगा, सहल होगा और मन ऊबनेके वजाय उसमे रस आवेगा। पाखानेके बारेमे जितनी बाते सोची जा सकती है सब यहा नही दी है, उनका नमूना भर दे दिया है।

कताईके यज्ञको ले तो उसके विषयमे भी यदि विचारमय काम हो तो हमे उसमेसे रसके घूट मिलेगे और कताईकी कलाकी प्रगतिकी हद ही न होगी। सब विचारपूर्वक काते तो हम बहुतेरी नई खोजे करे और सूत अच्छे-से-अच्छा निकाले।

यही बात प्रार्थनाकी है। प्रार्थना क्या है? किसलिए की जाती है? मौन क्यो रखते है? प्रार्थना संस्कृतमे क्यो हो? गुजराती, मराठी या हिंदीमे क्यो न की जाय? आदि अनेक बातोका विचार करके हम प्रार्थनाको प्रचंडशक्ति बना सकते हैं, पर हम उसके विषयमे कम-से-कम विचार करते हुए जान पड़ते है।

योग कर्मसु कौशलम्——यह गीताका विचार प्रौढ है। योगका अर्थ है जुडना। ईश्वरके साथ जुड जानेका नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशलसे वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवालेको अपने कर्ममें तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए। तकलीपर कातनेवाले विचारकने चरखेका महान् आविष्कार किया। चरखा कातनेवाले विचारक यांत्रिकने हजारों तकलीवाला चरखा बनाया। मेरी दृष्टिसे इसमें उसकी बुद्धि खूब चली, पर हृदय नहीं चला। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। फिर भी विचारशून्यताकी तुलनामें तो यंत्रका आविष्कार करनेवालेकी विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

: २२ :

सविचार कार्य और विचाररहित कार्य

२

यरवदा-मंदिर
११-९-३२

काम करनेमे भी विचारशक्तिका पूरा उपयोग करनेके विषयमे लिख चुका हूँ। उस पत्रके अतमें एक विचार किया था, जिसका कुछ विस्तार करना जरूरी है। उसमे मैंने यह सुझाया था कि विचार समाजपोषक होता है और समाजनाशक भी होता है, दैवी होता है और आसुरी भी होता है। एक आदमी चरखा कातते हुए रोज उसमे ऐसे सुधार करनेकी बात सोचता है जिससे लाखो-करोड़ो कातनेवालोंको आराम मिले, लाभ हो। दूसरा सोचता है कि मै खुद ही एक चरखेके जरिए लाखोके बराबर सूत कात लू तो कैसा अच्छा हो! पहलेका विचार समाजका पोषक है, दैवी है। दूसरेका आसुरी है, समाज-हितका विरोधी है। इसलिए हरएक काम करते हुए हम विचार करे, इतना ही काफी नही है। वह विचार सबके हितका भी होना चाहिए, केवल अपने ही

स्वार्थका नही। सच पूछिए तो जो केवल अपने ही स्वार्थके लिए प्रयास करता है वह दूसरोका नुकसान तो करता ही है, अपना स्वार्थ भी अंतमे नही साध सकता।

इस दृष्टिविंदुको सामने रखकर हरएक अपने हर काम, हर उद्योगके विषयमे विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने कामको रसमय बनाता है, अपनी बुद्धिका विकास करता है, अपने हृदयको विशाल बनाता और शुद्ध करता है, कार्यमे कुशलता प्राप्त करता है और उसमे ऐसी खोजे और सुधार करता है, जिनमे समाजका कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काममे उसका रस बढता है, इससे उसको आनद होता है, थकावट नही आती और कार्य कलामय हो जाता है, फिर भले ही वह पाखाना साफ करना हो, गली-सडककी सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो या गोशालाका हो, किताबे लिखनेका हो या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नही जान पडता। जो सामने आए उसीमे वह ईश्वरको देखेगा, उसीकी सेवा देखेगा। उसका रस कामके,

जाति-वर्गके ऊपर अवलंबित नही होता। उसका रस उसके अंतरसे, उसकी कर्त्तव्यपरायणतासे निकलता है। जो अनासक्तियोगको समझना, साधना चाहता हो उसको हरएक काम इसी तरह करना उचित है।